श्री ऋषभाय नमः

श्रीसन्मति-कुटीर-प्रकाशन-५

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचित

भक्तामरस्तोत्र

अर्थात्

श्रीआदिनाथस्तोत्र

श्रीचन्द्रकीर्तिकृत संस्कृतटीका ।

कविराज श्रीगिरिधरजी शर्मा नवरत्नकृत

हिन्दी-पद्यानुवाद ।

सम्पादक और भाषाटीकाकार—

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्री 'वसन्त'

अध्यापक श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर ।

प्रकाशक—

वीरेन्द्रकुमार देवेन्द्रकुमार जैन

श्रीसन्मति-कुटीर, चन्दावाड़ी, सी. पी. टैंक, बम्बई नं० ४

प्रथमावृत्ति १५००

माघ, वीर नि. सं० २४८७

जनवरी, सन् १९६१ ई०

मूल्य ६२ न.पै.

५०) सैकड़ा

समर्पण-पत्र

वर्तमान युगके महान् तत्त्ववेत्ता, शतावधानी, साक्षात् सरस्वती, कविवर, महात्मा गांधीजीके गुरुतुल्य, विश्वकी महान् विभूति-

श्रीमद्राजचन्द्रजी

जिनके स्थापित किये हुये श्रीपरमश्रुतप्रभावक मण्डल जिसकी देखरेखमें चलने वाली श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला है जिसमें जिनधर्म प्रभावक महान् महान् सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ, और हो रहा है, जिससे भव्योंको बड़ा लाभ हुआ है, और हो रहा है ।

इसी संस्थामें मेरे जीवनका बहुमूल्य समय आनन्दसे व्यतीत हुआ है, और हो रहा है, जिससे मैं अपनेको धन्य समझता हूँ। जहाँ से संकटकालमें मुझे बड़ा सहारा मिला है ।

अब मैं सत्संयम, चारित्र, और व्रतादि धारण करनेका प्रयत्न कर रहा हूँ ।

जैनधर्मका प्राण अध्यात्म-रहस्यसे पूर्ण श्रीमद् की रची-

અપૂર્વ અવસર એવો ક્યારે આવશે ?
ક્યારે થઈશું બાહ્યાંતર નિર્ગ્રન્થ જો ?
સર્વ સંબંધનું બંધન તીક્ષ્ણ છેદીને,
વિચરશું કબ મહત્પુરૂષને પંથ જો ।। અપૂર્વ.

भावना प्रातः नित्य भाता हूँ। श्रीमद् के इन्हीं अनेकानेक उपकारोंसे उपकृत होके यह पुण्य-स्तोत्र उनकी स्वर्गीय आत्माको सादर समर्पित करता हूँ ।

विनीत—

कुन्दनलाल.

आत्म-निवेदन

भक्तामरस्तोत्र का परिचय देनेकी जरूरत नहीं है। अब भी इस घोर कलिकालमें बहुतसे भाई बहनें हैं जो तत्वार्थसूत्र, तथा भक्तामर का पाठ किये विना या सुने विना भोजन नहीं करते हैं। दोनों ग्रन्थोंका जानकार ही पंडित कहलाता है। इसके रचयिता श्रीमानतुङ्गसूरि कौन थे ? उन्होंने किस समय धराधामको पवित्र किया था ? कुछ पता नहीं है। उनकी कोई दूसरी रचना भी प्राप्य नहीं है, जिसके सहारेसे कुछ लिखा जा सके। सूरिजी के सम्बन्ध में 'श्वेताम्बरसे दिगम्बर हुये थे, ४८ ताले टूट गये थे' आदि किम्बदन्तियाँ कई सुननेमें आती हैं। पर प्रमाणाभावसे कुछ नहीं कह सकते हैं।

इस पुण्य-स्तोत्रकी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें बड़ी मान्यता है। इसपर दोनों सम्प्रदाय के विद्वानोंने संस्कृतटीकायें और मन्त्र-तन्त्र रचे हैं, जो प्रगट हो गये हैं। महाकवि कालिदासके मेघदूतकी तरह प्राणप्रियकाव्य, वीर-भक्तामर, नेमि-भक्तामर, सरस्वती-भक्तामर, शान्ति-भक्तामर, पार्श्व-भक्तामर, ऋषभ-भक्तामर आदि अन्तिमपाद समस्यापूर्तियों के कई ग्रन्थ हैं।

एक बर्षके बाद मैं अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार इस पाँचवें स्तोत्रको छपाते हुए बड़ा प्रमुदित हो रहा हूँ। मेरी इच्छा पूरी हुई है। मेरे द्वारा ये सुंदर कार्य हुआ है। पाँचों स्तोत्र मैंने 'स्वान्तः सुखाय' छपाये हैं। कोई ख्याति-लाभकी इच्छासे नहीं। इन स्तोत्रोंकी बहुतसी प्रतियाँ मुनियों, तपस्वियों, ब्रह्मचारियों, त्यागियों, विद्वानों, तीर्थक्षेत्रों और जिनमन्दिरोंमें वितरणकी हैं, और कर रहा हूँ। कुछ प्रतियाँ बिक भी जाती हैं। इनसे जो द्रव्य आवेगा, वह छोटे छोटे उपयोगी सुन्दर

ग्रन्थ जो अलभ्य हो रहे हैं, उन्हें धीरे धीरे मूल, हिन्दीटीका और नवीन हिन्दी-पद्यानुवाद सहित छपाऊँगा। जैसे श्रीकुन्दकुन्दस्वामी कृत **बारस–अणुवेक्खा**, श्रीमल्लिषेणसूरिकृत **सज्जनचित्तवल्लभ** और महाराजा अमोघवर्षकृत **प्रश्नोत्तररत्नमाला** आदि।

इस पुण्य-स्तोत्रके तैयार करते और छपाते समय मेरे जीवनके ७० वें वर्षमें दो उल्लेखनीय घटनायें घटी हैं। पहली तो अर्द्ध शतीकी पराधीनतासे छुटकारा मिला है–अर्थात् नौकरी छूट गई, दूसरी मैं अब नित्य जिनेन्द्रपूजन करने लगा हूँ, जो मेरी कुलपरंपरासे होती रही है।

पंचस्तोत्रोंकी टीका और सम्पादनका कार्य साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्री मन्त्री विद्वत् परिषद् सागरने बड़े परिश्रम और निस्वार्थ-भावसे किया है, टीकामें श्लोकोंके भावोंको खूब स्पष्ट किया है और बड़ी सरल भाषामें लिखा है। पं० जी का बड़ा आभारी हूँ।

इसमें जो पद्यानुवाद है, वह राजकवि पं० गिरिधरजी शर्माकृत है। पं० जी का भी कृतज्ञ हूँ। संस्कृत-टीका मराठी पंचस्तोत्रपरसे छापी है, इसके सम्पादक वैद्य विद्याकुमार देवीदासजीका भी उपकार मानता हूँ। जैनेन्द्रप्रेस ललितपुरके मालिक पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ ने इसे बहुत किफायत और मुस्तैदीसे समयपर छाप दिया, अतः पं० जी को भी धन्यवाद है।

मेरे आयुष्मान् ज्येष्ठ पुत्र **वीरेन्द्रकुमार** का शुभ विवाह मिती वैशाख सुदी ९ गुरुवार ता० ५ मई सन् १९६० को बालाघाट निवासी सिंघई हुकुमचन्द्र जी की सुपुत्री आयुष्मती **पुष्पाकुमारी** (तुलसाबाई) से हुआ था, उसी समयके दानकी रकम से यह पुण्य-स्तोत्र प्रकाशित हो रहा है।

अगहन सुदी १५ वी. सं० २४८७
ता० ३-१२-१९६०

विनीत—
कुन्दनलाल जैन.

श्रीवृषभाय नमः

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचितम्

भक्तामरस्तोत्रम्

(श्रीआदिनाथस्तोत्रम्)

[वसन्ततिलका छन्द]

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥(युग्मं)[1]

१–द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥

जहां दो श्लोकोंमें क्रियाका अन्वय हो उसे युग्म, तीनमें हो उसे विशेषक, चारमें हो उसे कलाप और पांच, छह आदिमें हो उसे कुलक कहते हैं ।

कविवर पं० गिरधर शर्मा नवरत्न–कृत हिन्दी–पद्यानुवाद ।

हैं भक्त-देव-नत मौलि--मणि प्रभाके,
उद्योत--कारक, विनाशक पापके हैं ।
आधार जो भव--पयोधि पड़े जनोंके,
अच्छी तरा नम उन्हीं प्रभुके पदोंको ॥१॥
श्रीआदिनाथ विभुकी स्तुति मैं करूँगा,
की देवलोकपतिने स्तुति है जिन्होंकी ।
अत्यन्त सुन्दर जगत्त्रय--चित्तहारी,
सुस्तोत्रसे सकल शास्त्र रहस्य पाके ॥२॥

श्रीचन्द्रकीर्तिकृत संस्कृत टीका ।

प्रारिप्सितविघ्ननिवृत्तये स्वेष्टदेवतानमस्कारलक्षणं कृतं मंगलं स्तवनरूपे ग्रन्थे निबध्नन्नाह–

टीका:— भक्तामरेति । किलेति संभावनायां । अहमपि मानतुंगाचार्यः । तं प्रथमं जिनेन्द्रम् श्रीवृषभदेवं । स्तोष्ये स्तवनं करिष्यामीत्यर्थः । ष्टुञ् स्तुतावित्यस्य धातोः प्रयोगः । किं कृत्वा ? जिनपादयुगमर्हच्चरणद्वन्द्वम् सम्यग्यथोक्तप्रकारेण नत्वा । जिनपादयोः युगं जिनपादयुगम् । कथंभूतं जिनपादयुगम् । भक्तामर-प्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्द्योतकं । भक्ताश्च तेऽमराः शतेन्द्रादयो देवास्तेषां प्रणता नम्रीभूता ये मौलयः किरीटास्तेषां मणयस्तेषां प्रभाः कान्तयस्तासाम् । उद्द्योतयतीति उद्द्योतकम् । पुनः कथंभूतम् ? दलितपापतमोवितानम् । दलितं पापान्येव तमांसि तेषां वितानं येन तत् । पुनः कथंभूतम् ? युगादावेतदवसर्पिणीकाले । भवजले–संसार-सागरे, पततां–निमज्जतां, जनानां–लोकानां, आलम्बनं–हस्तावलम्बन-मित्यर्थः । तं कम् ? यः भगवान् सुरलोकनाथैः शतेन्द्रादिभिः स्तोत्रैः स्तवनैः संस्तुतः । कथंभूतैः सुरलोकनाथैः । सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात् सकलं–समस्तं यद्वाङ्मयं तस्य तत्त्वबोधो–यथार्थज्ञानं तस्मात् ।

उद्भूतबुद्धिपटुभिः उद्भूताः समुत्पन्ना या बुद्धयो मनीषास्ताभिः पटवो वाचालास्तैः। कथंभूतैः स्तोत्रैः जगत्त्रितयचित्तहरैः। जगतां त्रितयं तस्य चित्तानि मनांसि हरन्तीति तानि तैः। पुनरुदारैर्गंभीरैरित्यर्थः ॥ १-२ ॥ (युग्मं)

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्रीकृत अन्वयार्थ भावार्थ ।

अन्वयार्थ—(भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्) भक्त देवोंके झुके हुए मुकुट सम्बन्धी रत्नोंकी कान्तिके (उद्योतकम्) प्रकाशक (दलितपापतमोवितानम्) पापरूपी अन्धकारके विस्तारको नष्ट करनेवाले और (युगादौ) युगके प्रारम्भमें (भवजले) संसाररूप जलमें (पतताम्) गिरते हुए (जनानाम्) प्राणियोंके (आलम्बनम्) आलम्बन-सहारे (जिनपादयुगम्) जिनेन्द्र भगवान्‌के दोनों चरणोंको (सम्यक्) अच्छी तरहसे (प्रणम्य) प्रणाम करके (यः) जो (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) समस्त द्वादशांगके ज्ञानसे (उद्भूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई बुद्धिके द्वारा चतुर (सुरलोकनाथैः) इंद्रोंके द्वारा (जगत्त्रितयचित्तहरैः) तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तको हरनेवाले और (उदारैः) उत्कृष्ट (स्तोत्रैः) स्तोत्रोंसे (संस्तुतः) स्तुत किये गये थे (तम्) उन (प्रथमम्) पहले (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र ऋषभनाथको (अहम् अपि) मैं भी (किल) निश्चयसे (स्तोष्ये) स्तुति करूँगा।

भावार्थ—देवोंके द्वारा पूजित, पाप-समूहको नष्ट करनेवाले और हितका उपदेश देकर प्राणियोंको संसार-समुद्रसे निकालनेवाले जिनेन्द्रभगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर मैं भी उन भगवान् ऋषभनाथकी स्तुति करूँगा, जिनकी कि स्तुति स्वर्गके इंद्रोंने मनोहर स्तोत्रोंके द्वारा की थी ॥ १ ॥ २ ॥

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ !
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

हूँ बुद्धिहीन फिर भी बुध-पूज्यपाद,
तैयार हूँ स्तवनको निर्लज्ज होके ।
है और कौन जगमें तज बालको जो,
लेना चहे सलिल-संस्थित चन्द्र-बिम्ब ॥३॥

टीकाः— हे विबुधार्चितपादपीठ ! अहं मानतुंगः कविः । बुद्ध्या विनापि मतिहीनोऽपि । त्वां भगवन्तम् । स्तोतुं समुद्यतमतिर्वर्ते । विबुधैश्चतुर्णिकायाऽमरैः अर्चितं पूजितं पादयोः पीठं सिंहासनं यस्य स तस्यामंत्रणं । समुद्यता मतिर्यस्य सः । कथंभूतोऽहं विगता त्रपा लज्जा यस्य सः । बालं बिहाय इति किं परित्यज्यान्यः को मतिमान्पुमान् । जलसंस्थितं जले प्रतिबिम्बीभूतमिन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं । सहसा रभसा । ग्रहीतुमुपादातुम् । इच्छति वांछेत् न कोऽपीत्यर्थः ॥३॥

अन्वयार्थ- (विबुधार्चितपादपीठ !) देवोंके द्वारा पूजित है पादपीठ-पैर रखनेकी चौकी जिनकी ऐसे हे जिनेन्द्र ! (विगतत्रपः) लज्जा-रहित (अहम्) मैं (बुद्ध्या विना अपि) बुद्धिके विना भी (स्तोतुम्) स्तुति करनेके लिये (समुद्यतमतिः 'भवामि') तत्पर हो रहा हूँ, सो ठीक ही है क्योंकि (बालम्) बालक-मूर्खको (विहाय) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः जनः) कौन मनुष्य (जलसंस्थितम्) जलमें प्रतिबिम्बित (इन्दुबिम्बम्) चन्द्रमण्डलको (सहसा) विना बिचारे (ग्रहीतुम्) पकड़नेकी (इच्छति) इच्छा करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस तरह लज्जा रहित बालक जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको पकड़ना चाहता है, उसी तरह लज्जा रहित मैं बुद्धिके बिना भी आपकी स्तुति करना चाहता हूँ ॥३॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

होवे वृहस्पति समान सुबुद्धि तो भी,
है कौन जो गिन सके तव सद्गुणोंको ।
कल्पान्त--वायुवश सिन्धु अलंध्य जो है,
है कौन जो तिर सके उसको भुजासे ॥४॥

टीका:— भो गुणसमुद्र ! कः पुमान् । ते तव । गुणान् वक्तुम् यथार्थतया प्रतिपादयितुम् । क्षमः समर्थोऽस्ति । कथंभूतः सन् ? बुद्ध्या कृत्वा सुरगुरुप्रतिमोऽपि सन् सुरगुरुणा बृहस्पतिना प्रतिमीयतेऽसौ । कथंभूतान् गुणान् ? शशांककान्तान् शशांकः शरच्चन्द्र-स्तद्वत्कान्तान्मनोज्ञान् अथवा उज्ज्वलान् । स्वस्याशक्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति । वा इति पक्षान्तरे । कः पुमान् भुजाभ्यामम्बुनिधिं तरीतुमलं समर्थो भवति । न कोऽपीत्यर्थः । कथंभूतमम्बुनिधिं कल्पान्तकालस्य प्रलयकालस्य ये पवना वायवस्तैरुद्धता प्रकटीभूता ये नक्राः पाठीना मत्स्यादयो जीवास्तेषां समूहा यस्मिन् स तम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(गुणसमुद्र !) हे गुणोंके समुद्र ! (बुद्ध्या) बुद्धिके द्वारा (सुरगुरुप्रतिमः अपि) बृहस्पतिके सदृश भी (कः) कौन पुरुष (ते) आपके (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमाके समान सुन्दर

(गुणान्) गुणोंको (वक्तुम्) कहनेके लिये (क्षमः) समर्थ हैं ? अर्थात् कोई नहीं। (वा) अथवा (कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम्) प्रलयकालकी वायुके द्वारा प्रचण्ड है मगर-मच्छोंका समूह जिसमें ऐसे (अम्बुनिधिम्) समुद्रको (भुजाभ्याम्) भुजाओंके द्वारा (तरीतुम्) तैरनेके लिये (कः अलम्) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ— हे नाथ ! जिस तरह प्रलयकालकी तीक्ष्ण वायुसे लहराते और हिंसक जल-जन्तुओंसे भरे हुए समुद्रको कोई भुजाओंसे नहीं तैर सकता, उसी तरह कोई मनुष्य अत्यंत बुद्धिमान् होने पर भी आपके निर्मल गुणोंका वर्णन नहीं कर सकता ।। ४ ।।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ।।५।।

हूँ शक्तिहीन फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो, स्तुति हुआ वश भक्तिके मैं ।
क्या मोहके वश हुआ शिशुको बचाने,
है सामना न करता मृग सिंहका भी ।।५।।

टीकाः— हे मुनीश्वर, भो योगीश्वर ! सोऽहं मानतुंगाचार्यः । तथापि तथाविधः सन् । तव परमेश्वरस्य । भक्तिवशात् भक्त्या लीनः सन् । विगतशक्तिरपि स्तवं कर्तुमुद्यतः प्रवृत्तः । विगता शक्तिरस्य । स्वस्य धाष्टर्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति। मृगो हरिणः । प्रीत्या स्नेहेन । आत्मवीर्यं स्वपराक्रममविचार्य । निजशिशोः स्वसन्तानस्य । परि-पालनार्थं रक्षार्थं । मृगेन्द्रं सिंहं । किन्नाभ्येति, किन्न सम्मुखीभवति ? अपि तु सम्मुखीभवतीत्यर्थः ।।५।।

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश ! (तथापि) तो भी (सः अहम्) मैं-अल्पज्ञ (विगतशक्तिः अपि 'सन्') शक्ति रहित होता हुआ भी (भक्तिवशात्) भक्तिके वशसे (तव) आपकी (स्तवम्) स्तुति (कर्तुम्) करनेके लिये (प्रवृत्तः) तैयार हुआ हूँ, (मृगः) हरिण (आत्मवीर्यम् अविचार्य) अपनी शक्तिका विचार न कर केवल (प्रीत्या) प्रेमके द्वारा (निजशिशोः) अपने बच्चेकी (परिपालनार्थम्) रक्षाके लिये (किम्) क्या (मृगेन्द्रम् न अभ्येति) सिंहके सामने नहीं जाता ? अर्थात् जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह हरिण शक्ति न रहते हुए भी मात्र प्रीतिसे बच्चेकी रक्षाके लिये सिंहका सामना करता है, उसी तरह मैं भी शक्ति न होने पर भी सिर्फ भक्तिसे आपका स्तवन करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ ५ ॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु ॥ ६ ॥

हूँ अल्पबुद्धि बुध-मानवकी हँसीका,
हूँ पात्र, भक्ति तव है मुझको बुलाती ।
जो बोलता मधुर कोकिल है मधूमें,
है हेतु आम्र-कलिका बस एक उसका ॥६॥

टीका: —भो सर्वज्ञ ! त्वद्भक्तिरेव बलात्प्रसह्य । मां मानतुंगाचार्यं । मुखरीकुरुते वाचालयतीत्यर्थः । कथंभूतं मामल्पश्रुतं शास्त्रं यस्य स तम् । पुनः कथंभूतं माम् ? श्रुतवतां पण्डितानां मध्ये । परिहासस्य

धाम गृहं हासस्य भाजनं। अजहल्लिंगत्वादेवं। अन्यथा परिहासधामानं पुल्लिंगे भवति। स्वस्योत्साहतां दृष्टान्तेन द्रढयति। किल इति सत्ये। यत्कोकिलो मधौ वसन्ते। मधुरं विरौति ब्रूते। तत् चारवः मनोज्ञा या आम्रकलिका आम्रमञ्जर्यस्तासां निकरः स एव एकहेतुर्यस्य तत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(अल्पश्रुतम्) अल्पज्ञानी अतएव (श्रुतवताम्) विद्वानोंकी (परिहासधाम) हँसीके स्थानस्वरूप (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः एवं) आपकी भक्ति ही (बलात्) जबरन (मुखरीकुरुते) बाचाल कर रही है। (किल) निश्चयसे (मधौ) वसन्त ऋतुमें (कोकिलः) कोयल (यत्) जो (मधुरम् विरौति) मीठे शब्द करती है (तत्) वह (आम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु) आमकी सुदन्र मञ्जरीके समूहके कारण ही करती है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस तरह मूर्ख कोयल वसन्त ऋतुमें आम्र-मञ्जरीके कारण मीठे मीठे शब्द बोलने लगती है, उसी तरह मैं भी अल्पज्ञानी होता हुआ भी मात्र भक्तिसे आपकी स्तुति कर-रहा हूँ ॥६॥

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

तेरी किये स्तुति विभो बहु जन्मके भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्यके हैं।
भौंरे समान अति श्यामल ज्यों अँधेरा,
होता विनाश रविके करसे निशाका ॥७॥

टीका:—भो नाथ ! त्वत्संस्तवेन कृत्वा । शरीरभाजां प्राणिनां । भवसन्ततिसन्निबद्धं नानाजन्मान्तरनिबद्धं । पापं क्षणात् क्षणमात्रेण । क्षयं ध्वंसं । उपैति प्राप्नोति । भवानां सन्ततिः श्रेणिस्तया सन्निबद्धं । स्वस्य स्तवनमाहात्म्यं दृष्टान्तेन द्रढयति । किमिव शार्वरमन्धकारमिव । यथा शार्वरं रात्रिसम्बन्धि अन्धकारं । सूर्यांशुभिर्भिन्नं । तत्तु आशु शीघ्रं अशेषं समग्रं क्षयं याति । कथंभूतमन्धकारं । आक्रान्ताः पीडिता लोका येन तत् । पुनरलयो भ्रमरास्तद्वन्नीलं ॥७॥

अन्वयार्थ—(त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुतिसे (शरीरभाजाम्) प्राणियोंके (भवसन्ततिसन्निबद्धम्) अनेक भवोंके बँधे हुए (पापम्) पापकर्म, (आक्रान्तलोकम्) सम्पूर्ण लोकमें फैले हुए, (अलिनीलम्) भौंरोंके समान काले (सूर्यांशुभिन्नम्) सूर्यकी किरणोंसे खण्डित (शार्वरम्) रात्रि सम्बन्धी (अशेषम्) समस्त (अन्धकारम् इव) अन्धकारकी तरह (क्षणात्) क्षणभरमें (आशु) शीघ्र ही (क्षयम्) विनाशको (उपैति) प्राप्त होजाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्यकी किरणोंके द्वारा रात्रिका समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपके स्तोत्रसे प्राणियोंके जन्म-जन्ममें एकत्रित हुए पाप नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥८॥

यों मान की स्तुति शुरू मुझ अल्पधीने,
तेरे प्रभाव-वश नाथ वही हरेगी ।

सज्जोंकके हृदयकी जल-बिन्दु भी तो,
मोती समान नलिनी-दलपै सुहाते ॥८॥

टीका:—मत्वेति मत्वा मनसेत्यवबुद्धय । इदं प्रसिद्धं । तव संस्तवनं प्रारभ्यते । कथंभूतेन मया तन्वी स्वल्पा धीर्बुद्धिर्यस्य स तेन । तथापि तव प्रभावाद्भगवन्माहात्म्यात् । सतां सत्पुरुषाणां । चेतो हरिष्यति । ननु निश्चितं । उदबिन्दुर्जलकण: । नलिनीदलेषु कमलिनी-पत्रेषु । मुक्ताफलस्य द्युतिं दीप्तिमुपैति प्राप्नोति । नलिनीनां दलानि नलिनीदलानि तेषु । मुक्ताफलस्य द्युतिर्मुक्ताफलद्युतिस्ताम् ॥८॥

अन्वयार्थ –(नाथ !) हे स्वामिन् ! (इति मत्वा , ऐसा मानकर (मया तनुधिया अपि) मुझ मन्दबुद्धिके द्वारा भी (तव) आपका (इदम्) यह (संस्तवनम्) स्तवन (आरभ्यते) प्रारम्भ किया जाता है । जोकि (तव प्रभावात्) आपके प्रभावसे (सताम्) सज्जनोंके (चेत:) चित्तको (हरिष्यति) हरेगा । (ननु) निश्चयसे (उदबिन्दु:) पानीकी बूँद (नलिनीदलेषु) कमलिनीके पत्तोंपर (मुक्ताफलद्युतिम्) मोती जैसी कान्तिको (उपैति) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह कमलिनीके पत्रपर पड़ी हुई पानीकी बूँदें मोतीकी तरह सुन्दर दिखकर लोगोंके चित्तको हरती हैं, उसी तरह मुझ अल्पज्ञके द्वारा की हुई स्तुति भी आपके प्रभावसे सज्जनों के चित्तको हरेगी ॥ ८ ॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरण: *कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

---

* सहस्रकिरणपदे लिङ्गं परिवर्त्य 'अस्तसमस्तदोषम्' इत्यस्य अस्ता समस्ता दोषा रात्रिर्येन तत्राभूत इत्यर्थो बोध्य: ।

दुर्दोष दूर तव हो स्तुतिका बनाना,
तेरी कथा तक हरे जगके अघोंको ।
हो दूर सूर्य, करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनको सरोंमें ॥६॥

टीका:—भो नाथ ! तव परमेश्वरस्य । स्तवनं दूरे आस्तां तिष्ठतु । त्वत्संकथाऽपि भागवती वार्ताऽपि । जगतां लोकानां । दुरितानि पापानि । हन्ति स्फुटयति । तव सम्यग्भूता कथा त्वत्संकथा । कथंभूतं स्तवनं ? अस्ता निर्गताः समस्ता दोषा यस्य तत् । सहस्रकिरणः सहस्ररश्मिः दूरे वर्तते तस्य । प्रभैव पद्माकरेषु सरसीषु । जलजानि कमलानि । विकासभांजि विकचानि कुरुते विदधातीत्यर्थः । विकासं भजन्ति तानि विकासभांजि । यस्य प्रभाया एतादृक् माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टं तस्य सहस्रकिरणस्य का कथा ! एवं यस्य कथायाः सकाशादेतादृक् माहात्म्यं तस्य स्तवनस्य का कथा ? भगवतः स्तवनस्य माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टम् इति भावः ॥९॥

अन्वयार्थ—(अस्तसमस्तदोषम्) सम्पूर्ण दोषोंसे रहित (तव स्तवनम्) आपका स्तवन (आस्ताम्) दूर रहे, किन्तु (त्वत्सं-कथा अपि) आपकी पवित्र कथा भी (जगताम्) जगतके जीवोंके (दुरितानि) पापोंको (हन्ति) नष्ट कर देती है । (सहस्रकिरणः) सूर्य (दूरे 'अस्ति') दूर रहता है, पर उसकी (प्रभा एव) प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालावोंमें (जलजानि) कमलोंको (विकासभाञ्जि) विकसित (कुरुते) कर देती है ।

भावार्थ—प्रभो ! आपके निर्दोष स्ववनमें तो अनन्त शक्ति है ही, पर आपकी पवित्र चर्चामें भी जीवोंके पाप नष्ट करनेकी सामर्थ्य है । जैसे कि सूर्यके दूर रहनेपर भी उसकी उज्ज्वल किरणोंमें कमलोंको विकसित करनेकी सामर्थ्य रहती है ॥ ९ ॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

आश्चर्य क्या ? भुवनरत्न भले गुणोंसे,
तेरी किये स्तुति बने तुझसे मनुष्य।
क्या काम है जगतमें उन मालिकोंका,
जो आत्मतुल्य न करें निज आश्रितोंको ॥१०॥

टीका:—हे भुवनभूषण ! हे भूतनाथ ! भूतैः सत्यैर्गुणैः । भुवि पृथिव्यां । भवन्तं परमेश्वरं । अभिष्टुवन्तः पुमांसः । भवतस्तव । तुल्याः समाना भवंति । न अत्यद्भुतं महाश्चर्यं न । भुवनानां भूषणं भुवनभूषणं तस्यामन्त्रणे । भूतानां प्राणिनां नाथ । अथवा भूतानां देवानां नाथ तस्य सम्बोधने । अभि समन्तात् स्तुवंति इत्यभिष्टुवन्तः । वा अथवा । ननु निश्चितं । यः पुमान् । इह पृथिव्यामाश्रितं जनं । भूत्या स्वसमृद्ध्या । आत्मसमं न करोति स्वतुल्यं न विदधाति । तेन स्वामिना किं कार्यं भवति ? अपि तु न भवतीत्यर्थः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भुवनभूषण !) हे संसारके भूषण ! (भूतनाथ !) हे प्राणियोंके स्वामी ! (भूतैः) सच्चे (गुणैः) गुणोंके द्वारा (भवन्तम् अभिष्टुवन्तः) आपकी स्तुति करनेवाले पुरुष (भुवि) पृथिवी पर (भवतः) आपके (तुल्याः) बराबर (भवन्ति) हो जाते हैं, ('इदम्' अत्यद्भुतम् न) यह भारी आश्चर्यकी बात नहीं है, (वा) अथवा (तेन) उस स्वामीसे (किम्) क्या प्रयोजन है ? (यः) जो (इह) इस लोकमें (आश्रितम्) अपने आधीन पुरुषको (भूत्या)

सम्पत्तिके द्वारा (आत्मसमम्) अपने बराबर (न करोति) नहीं करता।

भावार्थ — हे स्वामिन् ! जिस तरह उत्तम मालिक अपने सेवकको सम्पत्ति देकर अपने समान बना लेता है, उसी तरह आप भी अपने भक्तको अपने समान शुद्ध बना लेते हैं ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥११॥

अत्यन्त सुन्दर विभो, तुझको विलोक,
अन्यत्र आँख लगती नहिं मानवोंकी।
क्षीराब्धिका मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधिका जल कौन खारा ? ॥११॥

टीका: — भो नाथ ! जनस्य सम्यक्त्वधारिणो लोकस्य। चक्षुर्नेत्रं। भवन्तं भगवन्तं। दृष्ट्वान्यत्र हरिहरादिषु देवेषु। तोषं प्रमोदं। न उपयाति न व्रजति। चक्षुरित्यर्थे जात्यपेक्षयैकवचनं। कथंभूतं भवन्तं ? अनिमेषेण विलोकनीयः अनिमेषविलोकनीयस्तं। कः पुमान् शशिकरद्युतिदुग्धसिंधोः क्षीरसमुद्रस्य पयः पीत्वा, जलनिधेः क्षारसमुद्रस्य क्षारं जलं। रसितुमास्वादितुं। इच्छेत् वांच्छेत् ? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥११॥

अन्वयार्थ — (अनिमेषविलोकनीयम्) विना पलक झपाये--एकटक देखनेके योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर (जनस्य) मनुष्योंके (चक्षुः) नेत्र (अन्यत्र) दूसरी जगह (तोषम्) सन्तोषको (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते। (दुग्धसिन्धोः) क्षीर-

समुद्रके (शशिकरद्युति) चन्द्रमाके समान कान्तिवाले (पयः) पानीको (पीत्वा) पीकर (कः) कौन पुरुष (जलनिधेः) समुद्रके (क्षारम्) खारे (जलम्) पानीको (रसितुम् इच्छेत्) स्वाद लेना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह क्षीरसमुद्रके निर्मल जलको पीनेवाला मनुष्य अन्य समुद्रके खारे पानीको पीनेकी इच्छा नहीं करता, उसी तरह आपके सुन्दर रूपको देखनेवाले मनुष्य किसी दूसरे सुन्दर पदार्थको नहीं देखना चाहते । आप सबसे अधिक सुन्दर हैं ॥ ११ ॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥१२॥

जो शान्तिके सुपरमाणु प्रभो, तनूमें,
तेरे लगे जगतमें उतने वहो थे ।
सौन्दर्य-सार, जगदीश्वर चित्तहर्त्ता,
तेरे समान इससे नहिं रूप कोई ॥१२॥

टीकाः—भो त्रिभुवनैकललामभूत ! यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिः कृत्वा । त्वं भवान् । निर्मापित उत्पादितः । खलु निश्चितं । तेऽप्यणवः पृथिव्यां तावन्त एव विद्यन्ते । कुतो हेतोः ? यद्यस्मात्कारणात् ते तव । समानं सदृशं । परं रूपं न ह्यस्ति । शान्ता उपशमं प्राप्ता रागाणां इति रागद्वेषादीनां रुचय इच्छा येषान्ते तैः । त्रिभुवनस्य मध्ये योऽद्वितीयः ललामभूतो रत्नसमानस्त्रिभुवनैकललामभूतस्तस्यामंत्रणे ॥१२॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनैकललामभूत !) हे त्रिभुवनके एक आभूषण ! (त्वम्) आप (यैः) जिन (शान्तरागरुचिभिः) शान्त होगई है रागादि दोषोंकी इच्छा जिनकी ऐसे (परमाणुभिः) परमाणुओंके द्वारा (निर्मापितः) रचे गये हैं (खलु) निश्चयसे (पृथिव्याम्) पृथिवीपर (ते अणवः अपि) वे अणु भी (तावन्तः एव 'बभूवुः') उतने ही थे (यत्) क्योंकि (ते समानम्) आपके समान (अपरम्) दूसरा (रूपम्) रूप (नहि) नहीं (अस्ति) है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिन परमाणुओंसे आपकी रचना हुई है, मालूम होता है कि वे परमाणु उतने ही थे। यदि उससे अधिक होते तो आपके समान दूसरा रूप भी होना चाहिए था, पर दूसरा रूप है नहीं, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे उतने ही थे। भगवन् ! आप अद्वितीय सुन्दर हैं ॥ १२ ॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिंबं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

तेरा कहाँ मुख सुरादिक नेत्ररम्य,
सर्वोपमान विजयी जगदीश, नाथ !
त्यों ही कलंकित कहाँ वह चन्द्रबिम्ब !
जो हो पड़े दिवसमें द्युतिहीन फीका ॥१३॥

टीकाः—भो नाथ ! द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः। ते तव परमेश्वरस्य वक्त्रं क्व ? इदं प्रसिद्धं निशाकरस्य चन्द्रबिम्बं क्व ? कथंभूतं वक्त्रं ? सुराश्च नराश्चोरगाश्च सुरनरोरगास्तेषां नेत्राणि

हरतीति सुरनरोरगनेत्रहारि । पुनः निःशेषाणि समग्राणि निर्जितानि जगतां त्रितयस्य उपमानानि येन तत् । कथंभूतं चन्द्रबिम्बं । कलंकेन मलिनं । यच्चन्द्रबिम्बं । वासरे दिवसे । पाण्डुपलाशकल्पं भवति । पलाशस्य पत्रं पलाशं । पाण्डु च तत्पलाशं च पाण्डुपलाशं पाण्डुपलाशादिषन्नूनं पाण्डुपलाशकल्पं ॥१३॥

अन्वयार्थ— (सुरनरोगनेत्रहारि) देव, मनुष्य, तथा धरणेन्द्रके नेत्रोंको हरण करनेवाला एवं (निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्) सम्पूर्ण रूपसे जीत लिया है तीनों जगतकी उपमाओंको जिसने ऐसा (ते वक्त्रम्) आपका मुख (क्व) कहाँ ? और(कलंकमलिनम्) कलंकसे मलीन (निशाकरस्य) चन्द्रमाका ('तद्' बिम्बम्) वह मण्डल (क्व) कहाँ ? (यत्) जो (वासरे) दिनमें (पलाशकल्पम्) ढाकके पत्ते की तरह (पाण्डु) फीका (भवति) हो जाता है ।

भावार्थ——नाथ ! जो लोग आपके मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं, वे गलती करते हैं । क्योंकि आपके मुखकी शोभा कभी नष्ट नहीं होती और चन्द्रमा की शोभा दिनमें नष्ट हो जाती है, इसके अतिरिक्त वह कलंकी है, और आपका मुख कलंक रहित है ॥१३॥

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप,
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

अत्यन्त सुन्दर कलानिधिकी कलासे,
तेरे मनोज्ञ गुणनाथ फिरें जगोंमें ।
है आसरा त्रिजगदीश्वरका जिन्होंको,
रोके उन्हें त्रिजगमें फिरते न कोई ॥१४॥

टीका—भो परमेश्वर ! तव परमेश्वरस्य गुणास्त्रिभुवनं लंघयन्ति । ये गुणा एकं त्रिजगदीश्वरनाथमिन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिस्वामिनं । संश्रिता आश्रिताः । कः पुमान् तान् गुणान् यथेष्टं संचरतो निवारयति निवारयितुं शक्तो भवति । त्रयाणां जगतामीश्वरास्तेषां नाथस्तं । कथंभूता गुणाः । सम्पूर्णं मण्डलं यस्य स एवंविधश्चासौ शशांकश्च सम्पूर्णमण्डलशशांकस्तस्य कलास्तासां कलापः समूहस्तद्वत् शुभ्रा उज्ज्वला इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप शुभ्राः) पूर्णचन्द्रबिम्बकी कलाओंके समूहके समान स्वच्छ (तव) आपके (गुणाः) गुण (त्रिभुवनम्) तीन लोकोंको (लंघयन्ति) लाँघ रहे हैं—सब जगह फैले हुए हैं सो ठीक ही है, क्योंकि (ये) जो (एकम्) मुख्य (त्रिजगदीश्वरनाथम्) तीनों लोकोंके नाथोंके नाथके (संश्रिताः) आश्रित हैं, (तान्) उन्हें (यथेष्टम्) इच्छानुसार (संचरतः 'सतः') घूमते हुए (कः) कौन (निवारयति) रोकता है ? कोई नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार किसी राजाधिराजके आश्रित रहनेवाले पुरुषोंको इच्छानुसार जहाँ तहाँ घूमते रहते कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार आपके आश्रित रहनेवाले कीर्ति आदि गुणोंको तीनों लोकोंमें कोई नहीं रोक सकता । आपके गुण सब जगह फैले हुए हैं ॥ १४ ॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

देवाङ्गना हर सकीं मनको न तेरे,
आश्चर्य नाथ! उसमें कुछ भी नहीं है।
कल्पान्तके पवनसे उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या? ॥ १५ ॥

टीका—भो परमेश्वर! यदि चेत्। त्रिदशांगनाभिर्देवाप्सरोभिः। ते तव भगवतो मनः। मनागपि किंचिदपि। विकारमार्गं न नीतं न प्रापितं। तर्हि अत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं? त्रिदशानां देवानामंगनास्त्रिदशांगनास्ताभिः। कुतः कारणात्? कल्पान्तकालमरुता प्रलयकालवायुना। किं मन्दराद्रिशिखरं मेरुशृङ्गं। कदाचित् चलितं कंपितं? अपि तु न कंपितमित्यर्थः। कल्पान्तकालस्य मरुत् कल्पान्तकालमरुत्तेन। मन्दराद्रेः शिखरं मन्दराद्रिशिखरं। कथंभूतेन कल्पान्तकालमरुता? चलिता विधूता अचलाः पर्वता येन स तेन ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ - (यदि) यदि (ते) आपका (मनः) मन (त्रिदशाङ्गनाभिः) देवाङ्गनाओंके द्वारा (मनाक् अपि) थोड़े भी (विकारमार्गम्) विकारभावको (न नीतम्) प्राप्त नहीं कराया जा सका है, (तर्हि) तो (अत्र) इस विषयमें (चित्रम् किम्) आश्चर्य ही क्या है? (चलिताचलेन) पहाड़ोंको हिला देनेवाली (कल्पांतकालमरुता) प्रलयकालकी पवनके द्वारा (किम्) क्या (कदाचित्) कभी (मन्दराद्रिशिखरम्) मेरुपर्वतका शिखर (चलितम्) हिलाया गया है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ—हे नाथ! जिस तरह प्रलयकालकी प्रचण्ड पवनके द्वारा मेरु पर्वत नहीं हिलाया जासकता, उसी तरह देवाङ्गनाओंके हाव-भावों द्वारा आपका मन-सुमेरु भी नहीं हिलाया जा सकता। आपका धैर्य अतुल है, और आपने मनको अपने वश कर लिया है ॥१५॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

बत्ती नहीं नहिं धुआँ नहिं तैलपूर,
भारी हवा तक नहीं सकती बुझा है ।
सारे त्रिलोक बिच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो द्युतिकारि तू है ॥१६॥

टीका——भो नाथ ! त्वं जगन्मण्डलेऽपूर्व अपरः कश्चन दीपः । असि वर्तसे । कुतो हेतोः ? यत् इदं कृत्स्नं जगत्त्रयं युगपत्प्रकटीकरोषि उद्योतयसीत्यर्थः । कथंभूतस्त्वलक्षणो दीपः ? धूमश्च वर्तिश्च धूमवर्ती धूमवर्तिभ्यां निष्कान्तो निर्धूमवर्तिः । पुनः कथंभूतः ? अपवर्जितो निराकृतस्तैलपूरो येन सः । पुनः कथंभूतः ? जातु कदाचिन्मरुतां गम्यो न मरुता न दनीध्वस्यसे इत्यर्थः । कथंभूतानां मरुतां ? चलिता अचला अद्रयो यैस्तेषां । पुनः कथंभूता ? जगति त्रिभुवने प्रकाशो यस्य स दीपः सधूमवर्तिः पुनर्युक्ततैलपूरः । पुनः कथंभूतः ? एकं गृहं प्रकटीकरोति स तु मरुतां वायूनां गम्यः स तु गृहप्रकाशकः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ——(नाथ !) हे स्वामिन् ! आप (निर्धूमवर्तिः) धुआँ तथा बत्तीसे रहित निर्दोष प्रवृत्तिवाले और (अपवर्जिततैलपूरः) तैलसे शून्य (भूत्वा अपि) होकर भी (इदम्) इस (कृत्स्नम्) समस्त (जगत्त्रयम्) त्रिभुवनको (प्रकटीकरोषि) प्रकाशित कर रहे हो तथा (चलिताचलानाम्) पहाड़ोंको हिला देनेवाली (मरुताम्) वायुके भी (जातु) कभी (गम्यः न) गम्य नहीं हो-वायु बुझा नहीं

सकती । इस तरह (त्वम्) आप (जगत्प्रकाशः) संसारको प्रकाशित करनेवाले (अपरः दीपः) अपूर्व दीपक (असि) हो ।

भावार्थ— हे नाथ ! आप समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले अनोखे दीपक हैं, क्योंकि अन्य दीपकोंकी बत्तीसे धुआँ निकलता रहता है, पर आपकी वर्ति-मार्ग निर्धूम-पाप रहित है । अन्य दीपक तेलकी सहायतासे प्रकाश फैलाते हैं, पर आप विना किसीकी सहायताके ही प्रकाश-ज्ञान फैलाते हैं । अन्य दीपक हवासे नष्ट होजाते हैं, पर आप अविनाशी हैं । तथा अन्य दीपक थोड़ीसी जगहको प्रकाशित करते हैं, पर आप समस्त लोकको प्रकाशित करते हैं ॥१६॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

तू हो न अस्त, तुझको गहता न राहू,
पाते प्रकाश तुझसे जग एकसाथ ।
तेरा प्रभाव रुकता नहिं बादलोंसे,
तू सूर्यसे अधिक है महिमा-निधान ॥१७॥

टीका—भो मुनीद्र ! मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामिंद्रस्तस्यामंत्रणे । लोके पृथिव्यां । त्वं सूर्यातिशायिमहिमा कदाचिदस्तं नोपयासि स सूर्यः अस्तमुपयाति । त्वं राहुगम्यो नासि स तु राहुगम्यः । त्वं सहसा वेगेन । युगपत्सहैव । जगन्ति त्रैलोक्यं स्पष्टीकरोषि उद्योतयसि । त्वमम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावो नांभोधरैर्मेघैरुदरमध्ये निरुद्धो महाप्रभावो यस्य सः । स तु अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र) हे मुनियोंके इन्द्र ! (त्वम्) तुम (कदाचित्) कभी (न अस्तम् उपयासि) न अस्त होते हो (न राहुगम्यः) न राहुके द्वारा ग्रसे जाते हो और (न अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः) न मेघके मध्यमें छिप गया है महान् तेज जिसका ऐसे भी हो तथा (युगपत्) एकसाथ (जगन्ति) तीनों लोकोंको (सहसा) शीघ्र ही (स्पष्टीकरोषि) प्रकाशित करते हो, (इति) इस तरह आप (सूर्यातिशायिमहिमा असि) सूर्यसे अधिक महिमावाले हो ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी महिमा सूर्यसे भी अधिक है । क्योंकि सूर्य सन्ध्याके समय अस्त हो जाता है, पर आप कभी अस्त नहीं होते । सूर्यको राहु ग्रस लेता है, पर आपको वह आजतक भी नहीं ग्रस सका है । सूर्य दिनमें क्रम क्रमसे सिर्फ मध्यलोकको प्रकाशित करता है, पर आप एक साथ समस्त लोकको प्रकाशित करते हैं, और सूर्यके तेजको मेघ रोक लेते हैं, पर आपके ज्ञान-तेजको कोई नहीं रोक सकता ॥ १७ ॥

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥१८॥

मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु-मुखमें, न छुपे घनोंसे ।
अच्छे प्रकाशित करे, जगको सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर नाथ ! मुखेन्दु तेरा ॥१८॥

टीका—भो जगदीश्वर ! तव भगवतो । मुखाम्बुजं वक्त्रकमलं । अपूर्वशशांकबिम्बं किंचिन्नवचन्द्रमण्डलं । विभ्राजते शोभते । भ्राजदीप्ता-

वित्यस्य धातोः प्रयोगः । कथंभूतं तव मुखाब्जं ? नित्यमजस्त्रमुदयो यस्य तत् । तत्तु कदाचिदुदयम् । पुनर्दलितं स्फेटितं मोहलक्षणं महान्धकारं येन तत् । पुनः राहुवदनस्य गम्यं न । पुनः वारिदानां मेघानां न गम्यं । पुनरनल्पा प्रबला कांतिः रुक् यस्य तत् । पुनर्जगत्त्रैलोक्यं विद्योतयत् । अपूर्वमेव शशांकबिम्बमपूर्वशशांकबिम्बम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(नित्योदयम्) हमेशा उदय रहनेवाला (दलित-मोहमहान्धकारम्) मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला (राहुवदनस्य न गम्यम्) राहुके मुखके द्वारा ग्रसे जानेके अयोग्य (वारिदानां न गम्यम्) मेघोंके द्वारा छिपानेके अयोग्य (अनल्पकान्ति) अधिक कान्तिवाला और (जगत्) संसारको (विद्योतयत्) प्रकाशित करने वाला (तव) आपका (मुखाब्जम्) मुखकमलरूपी (अपूर्वशशाङ्क-बिम्बम्) अपूर्व चन्द्रमण्डल (विभ्राजते) शोभित होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका मुखकमल अपूर्व चन्द्रमा है, क्योंकि यह चन्द्रमा दिनमें अस्त हो जाता है, पर आपका मुख-चन्द्र हमेशा उदित रहता है। चन्द्रमा सिर्फ अन्धकारको नष्ट करता है, पर आपका मुखचन्द्र मोहरूपी अन्धकारको भी नष्ट कर देता है। चन्द्रमा राहुके द्वारा ग्रसा जाता है, पर आपके मुखचन्द्रको राहु नहीं ग्रस सकता। चन्द्रमाको बादल छिपा लेते हैं, पर आपके मुखचन्द्र को बादल नहीं छिपा सकते। चन्द्रमाकी कान्ति कृष्ण पक्षमें घट जाती है, पर आपके मुखचन्द्रकी कान्ति हमेशा बढ़ती ही रहती है, और चन्द्रमा सिर्फ मध्यलोकको प्रकाशित करता है, पर आपका मुखचन्द्र तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १८ ॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ ।

निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

क्या भानुसे दिवसमें निशिमें शशीसे,
तेरे प्रभो, सुमुखसे तम नाश होते।
अच्छी तरह पक गया जग बीच धान,
है काम क्या जल भरे इन बादलोंसे ॥१९॥

टीका--भो नाथ! युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु भवन्मुखचन्द्रस्फेटितेषु। तमस्सु अन्धकारेषु। शर्वरीषु रात्रिषु। शशिना चन्द्रेण किं कार्यं? वा अथवा। अह्नि दिवसे। विवस्वता सूर्येण किं कार्यं?। युष्मत्तव मुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तेन दलितानि तेषु। जीवलोके पृथिव्यां। निष्पन्न-शालिवनशालिनि सति जलभारनम्रैर्जलधरैर्मेघैः कियत्कार्यं किं प्रयोजनं? निष्पन्नानि च तानि शालीनां वनानि च निष्पन्नशालिवनानि तैः शालते शोभत इति निष्पन्नशालिवनशालि तस्मिन् निष्पन्नशालिवनशालिनि। जलभारेण नम्रा जलभारनम्रास्तैः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे स्वामिन्! (तमःसु युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु 'सत्सु') अन्धकारके, आपके मुखचन्द्रमाके द्वारा नष्ट हो जानेपर (शर्वरीषु) रातमें (शशिना) चन्द्रमासे (वा) अथवा (अह्नि) दिनमें (विवस्वता) सूर्यसे (किम्) क्या प्रयोजन है? (निष्पन्नशालिवनशालिनि) पैदा हुई धान्यके वनोंसे शोभायमान (जीवलोके) संसारमें (जलभारनम्रैः) पानीके भारसे झुके हुए (जलधरैः) मेघोंसे (कियत्) कितना (कार्यम्) काम रह जाता है?

भावार्थ—हे प्रभो! जिस तरह संसारमें धान्यके पक जाने पर बादलोंसे कोई लाभ नहीं होता, उसी तरह आपके मुख-चन्द्र

के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जानेपर दिनमें सूर्यसे और रातमें चन्द्रमा से कोई लाभ नहीं है ॥१६॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजो महामणिषु[1] याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

जो ज्ञान निर्मल विभो तुझमें सुहाता,
भाता नहीं वह कभी पर-देवतामें ।
होती मनोहर छटा मणि मध्य जो है
सो काचमें नहिं, पड़े रविबिम्बके भी ॥२०॥

टीका--भो देव! यथा त्वयि विषये ज्ञानं कैवल्यं कृतावकाशं विभाति शोभते । तथा हरिहरादिषु नायकेषु ब्रह्मविष्णुमहेशेषु । एवं ज्ञानं कृतावकाशं नास्ति । कृतोऽवकाशः स्थानं यस्य तत् । हरिहरा आदिर्येषां ते हरिहरादयस्तेषु । यथा तेजो जात्येषु महामणिषु महत्त्वं याति प्राप्नोति । तथा तु पुनः किरणाकुलेऽपि काचशकले एवं तेजो महत्त्वं न याति । महान्तश्च ते मणयश्च महामणयस्तेषु । काचस्य शकलं काचशकलं तस्मिन् । किरणैराकुलं व्याप्तं तस्मिन् । भो देव! यत्त्वयि विषये ज्ञानं । विभ्राजते शोभते । तज्ज्ञानं हरिहरादिषु देवेषु नास्ति । यदि चेदेवं ज्ञानं स्यात् तदा संसारे परिभ्रमणं कथं कुर्वन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(कृतावकाशम्) अवकाशको प्राप्त (ज्ञानम्) ज्ञान (यथा) जिस तरह (त्वयि) आपमें (विभाति) शोभायमान होता

१–तेजः स्फुरन्मणिषु इत्यपि पाठः ।

है, (एवं तथा) उस तरह (हरिहरादिषु) विष्णु शङ्कर आदि (नायकेषु) देवोंमें (न 'विभाति') शोभायमान नहीं होता, (तेजः) तेज (महामणिषु) महा मणियोंमें (यथा) जैसे (महत्वम्) महत्वको (याति) प्राप्त होता है, (तु) निश्चयसे (एवं 'तथा') वैसे महत्वको (किरणाकुले अपि) किरणोंसे व्याप्त भी (काचशकले) काँचके टुकड़ेमें (न 'याति') नहीं प्राप्त होता ।

भावार्थ—हे विभो ! लोक अलोकको जाननेवाला निर्मल ज्ञान जिस तरह आपमें शोभाको प्राप्त होता है, उस तरह ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवोंमें नहीं होता । तेजकी शोभा महामणिमें ही होती है, न कि काँचके टुकड़ेमें भी ॥ २० ॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥२१॥

देखे भले अयि विभो! पर देवता ही,
देखे जिन्हें हृदय आ तुझमें रमे ये।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो! जो,
कोई रमे न मनमें पर जन्ममें भी ॥२१॥

टीका—नाथ ! अहमेवम्मन्ये हरिहरादय एव देवा । वरं दृष्टा समीचीनं विलोकिताः । कुतश्चेत्तेषु हरिहरादिषु दृष्टेषु सत्सु हृदयं ममान्तःकरणं । त्वयि भगवति विषये । तोषं प्रमोदं । एति प्राप्नोतीत्यर्थः । भो देव ! भवता श्रीतीर्थंकरपरमदेवेन । वीक्षितेन किं भवति ? एतदेव भवति । येन कारणेनान्यः कश्चिद्देवः । भुवि पृथिव्यां । भवान्तरेऽपि परजन्मन्यपि । मनो न हरति अन्तःकरणं न विकलीकरोति ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (मन्ये) मैं मानता हूँ, कि (दृष्टाः) देखे गये (हरिहरादयः एव) विष्णु, महादेव आदि देव ही (वरम्) अच्छे हैं, (येषु दृष्टेषु सत्सु) जिनके देखे जानेपर (हृदयम्) मन (त्वयि) आपके विषयमें (तोषम्) सन्तोषको (एति) प्राप्त हो जाता है, (वीक्षितेन) देखे गये (भवता) आपसे (किम्) क्या लाभ है ? (येन) जिससे कि (भुवि) पृथिवीपर (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा देव (भवान्तरे अपि) जन्मान्तरमें भी (मनः) चित्तको (न हरति) नहीं हर पाता ।

भावार्थ—इस श्लोकमें व्याजोक्ति अलंकारसे विपरीत कथन किया गया है । श्लोकका अविरुद्ध अर्थ यह है कि हे प्रभो ! संसार में आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं । आपके दर्शनसे चित्तको इतना सन्तोष होता है, कि वह मरनेके बाद भी किसी दूसरे देवके दर्शन नहीं करना चाहता । हरिहर आदि देव रागी द्वेषी हैं, उनके दर्शनसे चित्त सन्तुष्ट नहीं होता । इसी लिये वह आप जैसे देवोंके दर्शनोंकी इच्छा रखता है ॥ २१ ॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥ २२ ॥

मांयें अनेक जनतीं जगमें सुतोंको,
हैं किन्तु वे न तुमसे सुतकी प्रसूता ।
सारी दिशा धर रहीं रविका उजेला,
पै एक पूरव दिशा रविको उगाती ॥ २२ ॥

टीका—भो परमेश्वर भो देवाधिदेव ! स्त्रीणां शतानि नाना स्त्रियः । शतशोऽनेकशः पुत्राञ्जनयन्ति । पुनरन्या काचन जननी त्वदुपमं भवता तुल्यं सुतं । न प्रसूता न जनिता । त्वयोपमीयतेऽसौ त्वदुपमस्तं । सर्वा एव दिशः । भानि नक्षत्राणि । दधति धरन्ति । प्राच्येव पूर्वदिगेव । स्फुरदंशुजालं सहस्ररश्मिं सूर्यं । जनयति उत्पादयति । स्फुरन्ति दीप्यमानानि अंशुजालानि यस्य सः स्फुरदंशुजालस्तं । परं त्वदुपमां नैतीति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(स्त्रीणाम् शतानि) स्त्रियोंके शतक-सैकड़ों स्त्रियाँ (शतशः) सैकड़ों (पुत्रान्) पुत्रोंको (जनयन्ति) पैदा करती हैं, परन्तु (त्वदुपमम्) आप जैसे (सुतम्) पुत्रको (अन्या) दूसरी (जननी) माँ (न प्रसूता) पैदा नहीं कर सकी (भानि) नक्षत्रोंको (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (दधति) धारण करती हैं, परन्तु (स्फुरदंशुजालम्) चमक रहा है किरणोंका समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मिम्) सूर्यको (प्राची दिक् एव) पूर्व दिशा ही (जनयति) प्रकट करती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्यको पूर्व दिशाके सिवाय अन्य दिशाएँ प्रगट नहीं कर पातीं, उसी तरह आपको आपकी माताके सिवाय अन्य मातायें पैदा नहीं कर सकीं । आप भाग्यशालिनी माताके अद्वितीय भाग्यशाली पुत्र हैं ॥ २२ ॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्रपंथाः ॥२३॥

योगी तुझे परम-पुरुष हैं बताते,
आदित्यवर्ण मलहीन तमिस्रहारी ।
पाके तुझे जय करें सब मौतको भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्षमार्ग ॥२३॥

टीका—भो भगवन् भो देव ! मुनयः योगीश्वराः । त्वां परमं पुमांसं सर्वोत्कृष्टपुरुषं । आमनन्ति अंगीकुर्वन्ति इत्यर्थः । भो नाथ ! मुनयस्त्वाम् तमसोऽन्धकारस्य पुरस्तात् । अमलं भासमानमादित्यवर्णं सूर्यमामनन्ति । भो मुनीन्द्र मुनयस्त्वामेव भगवन्तं सम्यगुपलभ्य परिप्राप्य मृत्युं जयन्ति । शिवपदस्य शिवस्थानस्यान्यः पन्था मार्गः शिवः कल्याणकारी न स्यात् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र !) हे मुनियोंके नाथ ! (मुनयः) तपस्वी-जन ! (त्वाम्) आपको (आदित्यवर्णम्) सूर्यकी तरह तेजस्वी (अमलम्) निर्मल और (तमसः पुरस्तात्) मोह-अन्धकारसे परे रहनेवाले (परमं पुमांसम्) परम पुरुष (आमनन्ति) मानते हैं । वे (त्वाम् एव) आपको ही (सम्यक्) अच्छी तरहसे (उपलभ्य) प्राप्त कर (मृत्युम्) मृत्युको (जयन्ति) जीतते हैं । 'इसके सिवाय' (शिवपदस्य) मोक्षपदका (अन्यः) दूसरा (शिवः) अच्छा (पन्थाः) रास्ता (न 'अस्ति') नहीं है ।

भावार्थ—सांख्य मतवाले कमलपत्रकी तरह निर्लेप, शुद्ध ज्ञानरूप पुरुषको मानते हैं, और अन्तमें प्रकृतिजन्य विकारोंको छोड़कर पुरुषकी प्राप्तिको मोक्ष मानते हैं । आचार्य मानतुंगने अपनी व्यापक दृष्टिसे भगवान्‌के लिये ही परम् पुरुष बतलाता है, और साथमें यह भी कहा है कि आपको अच्छी तरह प्राप्तकर-जानकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । जो आपसे दूर रहते हैं, उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ॥२३॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

योगीश, अव्यय, अचिंत्य, अनङ्गकेतु,
ब्रह्मा, असंख्य, परमेश्वर, एक नाना।
ज्ञानस्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ता,
त्यों आद्य, सन्त तुझको कहते अनन्त ॥२४॥

टीका—भो नाथ ! सन्तः सत्पुरुषाः । त्वां एवंविधं वदंति कथयन्तीत्यर्थः । कथंभूतं त्वां ? विभुं ज्ञानस्वरूपेण व्यापकमित्यर्थः । पुनरचिन्त्यं अनेकातिशयैः कृत्वा चिन्तयितुं न शक्यमित्यर्थः । पुनरसंख्यं असंख्यातगुणैः कृत्वा संख्यारहितमित्यर्थः । पुनराद्यं एतदेवावसर्पिणीकालसम्बन्धिचतुर्विंशतितीर्थंकराणां मध्ये प्रथममित्यर्थः । पुनः कथंभूतं ? ब्रह्माणं परब्रह्मस्वरूपाढ्यमित्यर्थः । पुनः कथं ? ईश्वरमष्टप्रातिहार्यादिसमवसरणर्द्धिविराजमानत्वात् । पुनः कथं ? अनन्तमनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्याणामानन्त्यात् । पुनः कथं ? अनंगकेतुं[1] कामप्रज्वलने केतुर्धूमकेतुः कन्दर्पस्य दहनत्वात् । पुनः कथं ? योगीश्वरं योगिनां कैवल्यादिमुनीनामीश्वरस्तं तीर्थकरत्वात् । पुनः कथं विदितयोगं विदिता ज्ञाता योगा ध्यानानि रत्नत्रयस्वरूपव्यापारा येन स तं । पुनः कथं ? अनेकं अनेकानन्ततीर्थंकर नामत्वात् । पुनः कथं ? एकं त्रैलोक्यमध्ये एकोऽद्वितीयः तं सर्वोत्तमज्ञानस्वरूपमयत्वात् ज्ञानस्वरूपं त्वां भणंति । पुनः कथं ? अमलं मलरहितमष्टकर्मविनाशकत्वात् ॥ २४ ॥

१—पूर्वपदलोपे केतु पदेन धूमकेतुरग्निर्गृह्यते अथवा—अनङ्गाय केतुरिव इत्यनङ्गकेतुः कामविनाशसूचकः केतुर्ग्रहविशेष इत्यर्थः ।

अन्वयार्थ— (सन्तः) सज्जन पुरुष (त्वाम्) आपको (अव्ययम्) अव्यय (विभुम्) विभु (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (असंख्यम्) असंख्य (आद्यम्) आद्य (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (ईश्वरम्) ईश्वर (अनन्तम्) अनन्त (अनंगकेतुम्) अनंगकेतु (योगीश्वरम्) योगीश्वर (विदित-योगम्) विदितयोग (अनेकम्) अनेक (एकम्) एक (ज्ञानस्वरूपम्) ज्ञानस्वरूप और (अमलम्) अमल (प्रवदन्ति) कहते हैं ।

भावार्थ—भगवन् ! आपकी आत्माका कभी नाश नहीं होता, इसलिये सत्पुरुष आपको 'अव्यय'-अविनाशी कहते हैं । आपका ज्ञान तीनों लोकों में फैला हुआ है, इसलिये आपको 'विभु'-व्यापक कहते हैं। आपके स्वरूपका कोई चिन्तवन नहीं कर सकता, इसलिये आपको 'अचिन्त्य'-चिन्तवनके अयोग्य कहते हैं । आपके गुणोंकी संख्या नहीं है, इसलिये आपको 'असंख्य'-गणना रहित कहते हैं। आप युगके आदिमें हुए अथवा चौबीस तीर्थंकरों में आदि हैं, इसलिये आपको 'आद्य'-प्रथम कहते हैं । आप सब कर्मोंसे रहित हैं, अथवा अनन्त गुणों-से बढ़े हुए हैं, इसी लिये आपको 'ब्रह्मा' कहते हैं। आप कृतकृत्य हैं, इसी लिये आपको 'ईश्वर' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूप की अपेक्षा अन्त रहित हैं, इसलिये आपको 'अनन्त' कहते हैं। आप कामको नष्ट करनेके लिये अग्निकी तरह हैं, इसलिये आपको 'अनंगकेतु' कहते हैं। आप योगियों-मुनियोंके स्वामी हैं, इसलिये आपको 'योगीश्वर' कहते हैं। आप योग-ध्यान वगैरहको जाननेवाले हैं, इसलिये आपको 'विदितयोग' कहते हैं। आप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूप हैं, इसलिये आपको 'अनेक' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूपकी अपेक्षा एक हैं, इसलिये आपको 'एक' कहते हैं । आप केवलज्ञानरूप हैं, इसलिये आपको 'ज्ञान-

स्वरूप' कहते हैं, तथा आप कर्ममलसे रहित हैं, इसलिये आपको 'अमल' कहते हैं ॥ २४ ॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

तू बुद्ध है विबुध-पूजित-बुद्धिवाला,
कल्याण-कर्तृवर शंकर भी तुही है ।
तू मोक्षमार्ग विधि-कारक है विधाता,
है व्यक्त नाथ पुरुषोत्तम भी तुही है ॥२५॥

टीका—भो भगवन् ! त्वमेव बुद्धोऽसि बुद्धदेवोऽसीत्यर्थः । कुतः ? विबुधार्चितबुद्धिबोधात् । विबुधैर्देवैरर्चितः पूजितः । बुद्धेर्बोधः प्रतिबोधो यस्य स तस्मात् । भो नाथ ! त्वं शंकरोऽसि । त्वमेव शंकरदेवोऽसीत्यर्थः । कस्मात् भुवनत्रयाणां शं सुखं करोतीति भुवनत्रयशंकरस्तस्य भावस्तस्मात् । हे धीर ! त्वमेव धाताऽसि । कस्मात्, शिवस्य मोक्षस्य मार्गः पन्थास्तस्य विधिः आचारस्तस्य विधानात् करणत्वात् । भो भगवन् ! व्यक्तम् स्पष्टम् यथा स्यात्तथा त्वमेव पुरुषोत्तमोऽसि । त्रिषष्टिपुरुषाणां मध्ये उत्तमः पुरुषोत्तमस्तीर्थंकरः साक्षान्मोक्षांगत्वात् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) देव अथवा विद्वानोंके द्वारा पूजित बुद्धि-ज्ञानवाले होनेसे (त्वम् एव) आप हो (बुद्धः) बुद्ध हैं । (भुवनत्रयशङ्करत्वात्) तीनों लोकोंमें शांति करनेके कारण (त्वम् एव) आप ही (शङ्करः असि) शङ्कर हैं । (धीर) हे धीर ! (शिवमार्गविधेः) मोक्षमार्गकी विधिके (विधानात्) करनेसे (त्वम्

एव) आप ही (धाता) ब्रह्मा हैं, और (भगवन्) हे स्वामिन् ! (त्वम् एव) आप ही (व्यक्तम्) स्पष्ट रूपसे (पुरुषोत्तमः असि) मनुष्योंमें उत्तम अथवा नारायण हैं ।

भावार्थ--संसार में बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा और नारायण नामसे प्रसिद्ध अन्य देव हैं। आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! केवलज्ञान-सहित होनेके कारण आप ही सच्चे 'बुद्ध' हैं। किन्तु जो सर्वथा क्षणिक-वादी अथवा केवलज्ञानसे रहित हैं, वह बुद्ध बुद्ध नहीं कहला सकते। तीनों लोकोंके सुख या शांतिके करनेसे आप ही सच्चे 'शङ्कर' हैं। जो संसारका संहार करनेवाले हैं, और कामसे पीड़ित होकर पार्वती को हमेशा साथ रखते हैं, वह शंकर शंकर नहीं हो सकते । आपने ही रत्नत्रयरूप धर्मका उपदेश देकर मोक्षमार्गकी सृष्टि की है। इस-लिये आपही सच्चे 'ब्रह्मा' हैं । जो हिंसक वेदोंका उपदेश देते और तिलोत्तमाके मोहमें फँस तपसे भ्रष्ट हुए, वह ब्रह्मा ब्रह्मा नहीं कहे जा सकते । इसी तरह पुरुषोत्तम-कृष्णनारायण भी तुम्हीं हो, क्योंकि आप सब पुरुषोंमें उत्तम-श्रेष्ठ हो ॥ २५ ॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

त्रैलोक्य-आर्तिहरनाथ तुझे नमूँ मैं,
हे भूमिके विमल रत्न ! तुझे नमूँ मैं।
हे ईश ! सर्व जगके तुझको नमूँ मैं,
मेरे भवोदधि-विनाशि तुझे नमूँ मैं ॥२६॥

टीका:— भो नाथ ! तुभ्यं भगवते नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? त्रिभुवनस्यार्तिं दुःखं हरतीति त्रिभुवनार्तिहरस्तस्मै । भो देव! तुभ्यं नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? क्षितितलेऽमलभूषणं क्षितितलामलभूषणं तस्मै । भो जिन ! तुभ्यं नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? त्रिजगतश्चाधोमध्योर्ध्वलोकस्य । परमश्चासौ ईश्वरः परमेश्वरस्तस्मै । भो जिन ! तुभ्यं नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? भवलक्षणो य उदधिः समुद्रस्तं शोषयतीति भवोदधिशोषणस्तस्मै ॥ २६॥

अन्वयार्थ— (नाथ !) हे स्वामिन् ! (त्रिभुवनार्तिहराय) तीनों लोकोंके दुःखोंके हरनेवाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (क्षितितलामलभूषणाय) पृथिवीतलके निर्मल आभूषणस्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (त्रिजगतः) तीनों जगत्के (परमेश्वराय) परमेश्वर स्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, और (जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (भवोदधिशोषणाय) संसार-समुद्रके सुखानेवाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो ।

भावार्थ— हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंकी विपत्तियाँ हरनेवाले हो, महीतलके निर्मल आभूषण हो, त्रिभुवनके स्वामी हो और संसार-समुद्रके शोषक हो, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ २६ ॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

आश्चर्य क्या गुण सभी तुझमें समायें,
अन्यत्र क्योंकि न मिली उनको जगा ही,

देखा न नाथ ! मुख भी तव स्वप्नमें भी,
पा आसरा जगतका सब दोषने तो ॥२७॥

टीका:—मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीशः । तस्यामंत्रणे । भो मुनीश ! अत्र जगन्मण्डले । को विस्मयः किमाश्चर्यम् । यदि चेत् नामेति सत्ये । अशेषैः समग्रैर्गुणैः । निरवकाशतया अनवकाशतया अवकाशरहितत्वेन । त्वं भगवान् संश्रितः । अवकाशान्निष्कान्तो निरवकाशस्तस्य भावस्तत्ता तया । भो नाथ ! दोषैरष्टादशदोषैः । स्वप्नान्तरेऽपि स्वप्नमध्येऽपि । त्वं कदाचिदपि नेक्षितोऽसि न दृष्टोऽसि । अत्रापि को विस्मयः ? कथंभूतैर्दोषैः ? उपात्ताः आदृताश्च ते विविधा अनेकाश्रयाश्च तैः कृत्वा जात उत्पन्नो गर्वोऽभिमानो येशां ते तैः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश !) हे मुनियोंके स्वामी ! (यदि नाम) यदि (निरवकाशतया) अन्य जगह स्थान न मिलनेके कारण (त्वम्) आप (अशेषैः) समस्त (गुणैः) गुणोंके द्वारा (संश्रितः) आश्रित हुए हो और (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त हुये अनेक आधार से उत्पन्न हुआ है, अहंकार जिनको ऐसे (दोषैः) दोषोंके द्वारा (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्नके मध्यमें भी (कदाचित् अपि) कभी भी (न ईक्षितः असि) नहीं देखे गये हो, (तर्हि) तो (अत्र) इस विषयमें (कः विस्मयः) क्या आश्चर्य है ? कुछ नहीं ।

भावार्थ—गुणोंको संसारमें अन्य स्थान नहीं मिला, इसलिये वे विवश हो आपकी शरणमें आगये । परन्तु दोषोंको अन्य स्थानकी कमी नहीं थी, इसलिये वे स्वप्नमें भी आपके पास नहीं आये । व्यवहार में भी देखा जाता है, कि जिसका अन्यत्र सन्मान नहीं होता है, वह विवश हो किसी एकके पास ही रहता है, पर जिसका हरजगह सन्मान होता है, वह किसी एकके आश्रित नहीं रहता । श्लोकका

तात्पर्य इतना ही है कि आप गुणवान् हैं, आपमें दोष बिलकुल ही नहीं हैं ॥ २७ ॥

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥

नीचे अशोक तरुके तन है सुहाता,
तेरा विभो ! विमलरूप प्रकाशकर्त्ता ।
फैली हुई किरणका तमका विनाशी,
मानो समीप घनके रवि-बिम्ब हो है ॥२८॥

टीकाः—भो नाथ ! भगवतस्तव परमेश्वरस्य । अमलं रूपं जगन्मोहनसौन्दर्यं । उच्चैरशोकतरुसंश्रितं प्रथमप्रातिहार्याशोकवृक्षाश्रितं । स तु नितान्तं निरन्तरमाभाति राजतीत्यर्थः । उच्चैश्चासावशोकतरुश्चो-च्चैरशोकतरुस्तं संश्रितं रूपं । कथंभूतं रूपं ? उन्मयूखं उत ऊर्ध्वं निःसरन्तो मयूखाः किरणा यस्मात्तत् । कस्य किमिव रवेर्बिम्बमिव । यथा रवेः सूर्यस्य बिम्बं पयोधरपार्श्ववर्ति । कथं ? रवेर्बिम्बं स्पष्टं प्रकटं यथा स्यात्तथा । उल्लसन्तः विस्फुरन्तः किरणा यस्य तत् । पुनः कथं ? अस्तं निराकृतं तमसां पापानां वितानं समूहो येन तत् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(उच्चैरशोकतरुसंश्रितम्) ऊँचे अशोक वृक्षके नीचे स्थित तथा (उन्मयूखम्) जिसकी किरणें ऊपरको फैल रही हैं, ऐसा (भवतः) आपका (अमलम्) उज्ज्वल (रूपम्) रूप (स्पष्टोल्लसत्कि-रणम्) स्पष्ट रूपसे शोभायमान हैं किरणें जिसकी और (अस्ततमो-वितानम्) नष्ट कर दिया है, अन्धकारका समूह जिसने ऐसे (पयोधर-

पार्श्ववर्ति) मेघके पासमें वर्तमान (रवेः बिम्बम् इव) सूर्यके बिंबकी तरह (नितान्तम्) अत्यन्त (आभाति) शोभित होता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! ऊँचे और हरे भरे अशोक वृक्षके नीचे आपका सुवर्णसा उज्ज्वल रूप उस भाँति भला मालूम होता है, जिस-भाँति काले-काले मेघके नीचे सूर्यका मण्डल । यह अशोक प्रातिहार्य का वर्णन है ॥ २८ ॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

सिंहासन-स्फटिक रत्न-जड़ा उसीमें,
भाता विभो ! कनक-कान्त शरीर तेरा ।
ज्यों रत्नपूर्ण उदयाचल शीशपै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-बिम्ब सोहे ॥२९॥

टीकाः—भो नाथ ! मणिमयूखशिखाविचित्रे नानारत्नकिरण-प्रभाभासुरे । सिंहासनेऽनर्घ्यविष्टरे । कनकावदातं प्रतप्तकांचनसन्निभं । तव परमेश्वरस्य । सप्तधातुविवर्जितं परमौदारिकं वपुर्देहो विभ्राजते । अतिशयेन विराजत इत्यर्थः । मणीनां मयूखाः किरणास्तेषां शिखाः कांतिकलापास्ताभिर्विचित्रं तस्मिन् । किमिव सहस्ररश्मेः सूर्यस्य बिंबं मण्डलं । तुंगोदयाद्रिशिरसि उच्चैस्तरोदयशिखरे । विराजते शोभते । तुंगश्चासावुदयाद्रिश्च तुंगोदयाद्रिस्तस्य शिखरं तस्मिन् । कथंभूतं बिम्बम् ? वियद्विलसदंशुलतावितानं वियति गगने विलसच्छोभमानमंशुलतानां वितानं यस्मिन् तत् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मणिमयूखशिखाविचित्रे) रत्नोंकी किरणोंके अग्रभागसे चित्र विचित्र (सिंहासने) सिंहासनपर (तव) आपका (कनकावदातम्) सुवर्णकी तरह उज्ज्वल (वपुः) शरीर, (तुङ्गोदयाद्रिशिरसि) ऊँचे उदयाचलकी शिखरपर (वियद्विलसदंशुलतावितानम्) आकाशमें शोभायमान है किरणरूपी लताओंका समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मेः) सूर्यके (बिम्बम् इव) मण्डलकी तरह (विभ्राजते) शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ—हे प्रभो ! उदयाचलकी चोटीपर सूर्यका बिम्ब जैसा भला मालूम होता है, वैसा ही रत्नोंके सिंहासनपर आपका मनोहर शरीर भला मालूम होता है। यह सिंहासन प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २९ ॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकांतम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

तेरा सुवर्णसम देह विभो ! सुहाता,
है श्वेत कुन्द-सम चामरके उड़ेसे ।
सोहे सुमेरुगिरि, कांचन कांतिधारी,
ज्यों चन्द्रकांति-धर निर्झरके बहेसे ॥३०॥

टीकाः -भो भगवन् ! तव वपुः कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं सत् विभ्राजते चकास्तीत्यर्थः । कुन्दवदवदातानि उज्ज्वलानि चलानि वीज्यमानानि च तानि चामराणि च कुन्दावदातचलचामराणि तैः चार्वी मनोज्ञा शोभा यस्य तत् । कथंभूतं वपुः ? कलधौतवत्कान्तं मनोज्ञं कलधौतकान्तं । किमिव सुरगिरेः शातकौम्भं । उच्चैस्तटमिव यथा सुरगिरे-

मेरोः शातकौम्भं । सुवर्णमयं उच्चैस्तटं । विभ्राजते । शातकुम्भस्येदं शातकौम्भं । कथंभूतमुच्चैस्तटं ? उद्यतश्चासौ शशांकश्चोद्यच्छशांकस्तद्वच्छुचीन्युज्ज्वलानि च निर्झराणां वारीणि च उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारीणि तेषां धारा यस्मिन् तत् ॥३०॥

अन्वयार्थ—(कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) कुन्दके फूलके समान स्वच्छ चँवरोंके द्वारा सुन्दर है, शोभा जिसकी ऐसा (तव) आपका (कलधौतकान्तम्) सुवर्णके समान सुन्दर (वपुः) शरीर (उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्) जिसपर चन्द्रमाके समान शुक्ल झरनेके जलकी धारा बह रही है, ऐसे (सुरगिरेः) मेरुपर्वतके (शातकौम्भम्) सोनेके बने हुए (उच्चैस्तटम् इव) ऊँचे तटकी तरह (विभ्राजते) शोभायमान होता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिसपर देवोंके द्वारा सफेद चँवर ढोले जा रहे हैं, ऐसा आपका सुवर्णमय शरीर उतना सुहावना मालूम होता है, जितना कि झरनेके सफेद जलसे शोभित मेरुपर्वतका सोनेका शिखर । यह चँवर प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३० ॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

मोती मनोहर लगे जिनमें सुहाते,
नीके हिमांशु-सम, सूरज-तापहारी ।
हैं तीन छत्र शिरपै अति रम्य तेरे,
जो तीन लोक परमेश्वरता बताते ॥३१॥

टीका:—भो भगवन् ! तव भगवतः। छत्रत्रयं शशांकवदुज्ज्वलं शशांककान्तं। पुनः कथं ? स्थगित उत्तंभितो भानुकराणां सूर्यकिरणानां प्रतापो येन तत्। पुनः कथं ? मुक्ताफलानां प्रकराः गुच्छा मुक्ताफल-प्रकरास्तेषां जालानि पुंजास्तैर्विशेषेण वृद्धा वर्धमाना शोभा यस्य तत्। पुनः कथं ? त्रिजगतः परमेश्वरस्य परमैश्वर्यं प्रख्यापयत् प्रवदत्। प्रकर्षेण ख्यापयति कथयतीति प्रख्यापयत्। परमेश्वरस्य भावः परमेश्वरत्वं ॥३१॥

अन्वयार्थ (शशाङ्ककान्तम्) चन्द्रमाके समान सुन्दर (स्थगित-भानुकरप्रतापम्) सूर्यकी किरणोंके सन्तापको रोकनेवाले तथा (मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्) मोतियोंके समूहसे बढ़ती हुई शोभाको धारण करनेवाले (तव उच्चैः स्थितम्) आपके ऊपर स्थित (छत्रत्रयम्) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीन जगतके (परमेश्वरत्वम्) स्वामित्वको (प्रख्यापयत् 'इव') प्रकट करते हुएकी तरह (विभाति) शोभायमान होते हैं।

भावार्थ - भगवन् ! आपके शिरपर जो तीन छत्र फिर रहे हैं, वे मानों यह प्रकट कर रहे हैं कि आप तीन लोकके स्वामी हैं। यह छत्रत्रय प्रतिहार्यका वर्णन है ॥ ३१ ॥

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
खे दुंदुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥ ३२ ॥

गंभीर नाद भरता दश ही दिशामें,
सत्संगकी त्रिजगको महिमा बताता।
धर्मेशकी कर रहा जय-घोषणा है,
आकाश बीच बजता यशका नगारा ॥३२॥

टीका:—खे आकाशे ! ते तव तीर्थंकरस्य। दुन्दुभिः पटहः । ध्वनति शब्दायते । कथंभूतं दुन्दुभिः ? गम्भीरोऽगाधस्तार उच्चैस्तरो यो रवः शब्दस्तेन पूरिता दिग्विभागा येन सः । पुनः कथंभूतं ? त्रैलोक्यस्य लोका इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादयस्तेषां शुभस्य संगमः प्राप्तिस्तस्य भूतिर्भवनं तत्र दक्षो निपुण इत्यर्थः । पुनः कथं ? सत्समीचीनो यो धर्मराजस्तस्य जयघोषणं जयपटहं घोषयति कथयतीति सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः । अथवा सन् विद्यमानो धर्मराजो यमस्तस्य जयस्तस्य घोषणं घोषयतीति, पुनः कथं ? सन् उत्तमः । पुनः कथंभूतं ? यशसः प्रवादी । प्रकर्षेण वदत्येवंशीलः प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थ—(गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः) गम्भीर और उच्च शब्दसे दिशाओंके विभागको पूर्ण करनेवाला (त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः) तीन लोकके जीवोंको शुभ सम्पत्ति प्राप्त करानेमें समर्थ और (सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः) समीचीन जैनधर्मके स्वामीकी जयघोषणा करनेवाला (दुन्दुभिः) दुन्दुभि बाजा (ते) आपके (यशसः) यशका (प्रवादी सन्) कथन करता हुआ (खे) आकाशमें (ध्वनति) शब्द करता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आकाशमें जो दुन्दुभि बाजा बज रहा है, वह मानों आपकी जय बोलता हुआ आपका सुयश प्रगट कर रहा है । यह दुन्दुभि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३२ ॥

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गंधोदबिंदुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥ ३३ ॥

गन्धोद-बिन्दुयुत मारुतकी गिराई,
मन्दारकादि तरुकी कुसुमावलीकी ।
होती मनोग्म महा सुरलोकसे है,
वर्षा, मनो तव लसे वचनावली है ॥३३॥

टीका:—भो भगवन् ! ते तव । उद्धा प्रत्यग्रा । मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः । दिवो गगनात्पतति । मंदाराणि च सुन्दरनमेरूणि च सुपारिजातानि च सन्तानकानि च मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकानि तान्येवादिर्येषां तान्येवं विधानि च तानि कुसुमानि च तेषामुत्करः समूहस्तस्य वृष्टिर्वर्षणं मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः । गन्धमिश्रिता य उदबिन्दवो जलकणाः शुभाः शीतला मन्दाः सुरभयो ये मरुतो वायवस्तेषां प्रपातो यस्यां सा । पुनः कथंभूता ? दिवि भवा दिव्या । वा इवार्थे । उत्प्रेक्षते तव वचसां ततिरिव वचनश्रेणिरिव ॥३३॥

अन्वयार्थ —(गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता) सुगन्धित जलकी बूँदों और उत्तम मन्द हवाके साथ है प्रपात-गिरना जिसका ऐसी (उद्धा) श्रेष्ठ और (दिव्या) मनोहर (मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षोंके फूलोंके समूहकी वर्षा (ते) आपके (वचसाम्) वचनोंकी (ततिः वा) पंक्तिकी तरह (दिवः) आकाशसे (पतति) पड़ती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! सुगन्धित जल और मन्द हवाके साथ आकाशसे जो कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा होती है, वह आपके मनोहर वचनावलीकी तरह शोभित होती है । यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३३ ॥

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरंतरभूरिसंख्या ।
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्या ॥३४॥

त्रैलोक्यकी सब प्रभामय वस्तु जीती,
भामण्डल प्रबल है तव नाथ ऐसा ।
नाना प्रचण्ड रवि-तुल्य सुदीप्तिधारी,
है जीतता शशि सुशोभित रातको भी ॥३४॥

टीका:— भो स्वामिन् ! ते तव । विभोः परब्रह्मणः । शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा । भामण्डलप्रभा लोकत्त्रयद्युतिमतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकादीनां द्युतिं दीप्तिमाक्षिपन्ती तिरस्कुर्वन्ती । सती दीप्त्या कृत्वा । निशामपि रात्रिमपि जयत्यपि । शुम्भच्छोभमानं यत्प्रभावलयं भामण्डलं तस्य भूरिश्चासौ विभा च शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा । लोकत्रये द्युतिमन्तस्तेषाम् । कथंभूता भामंडलप्रभा ? प्रोद्यन्तः उदयन्तो दिवाकराः सूर्यास्तेषां निरान्तरा आन्तर्यरहिता भूरयः प्रचुराः संख्या गणना यस्याः सा । पुनः कथंभूता ? सोमश्चन्द्रस्तद्वत्सौम्या मनोज्ञा ॥३४॥

अन्वयार्थ—(लोकत्रयद्युतिमताम्) तीनों लोकोंके कांतिमान पदार्थोंकी (द्युतिम्) कांतिको (आक्षिपन्ती) तिरस्कृत करनेवाली (प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या) उगते हुए अन्तर रहित अनेक सूर्योंकी है बहु गणना जिनमें और ऐसी (सोमसौम्या) चन्द्रमाके समान सुन्दर (ते विभोः) आपके (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) देदीप्यमान भामण्डलकी विशाल कान्ति-रात्रिको भी (जयति) जीत रही है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आपकी प्रभा सूर्यसे भी अधिक तेज-

स्विनी है, तथापि वह सन्ताप देनेवाली नहीं है। चन्द्रप्रभाकी तरह शीतल भी है। यह भामण्डल प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३४ ॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥ ३५ ॥

है स्वर्ग मोक्ष-पथ--दर्शनकी सुनेता,
सद्धर्मके कथनमें पटु है जगोंके।
दिव्यध्वनि प्रकट अर्थमयी प्रभो ! है,
तेरी लहे सकल मानव बोध जिस्से ॥३५॥

टीका:—भो विभो ! ते तव भगवतो दिव्यध्वनिर्भवति । कथंभूतो दिव्यध्वनिः ? स्वर्गः सुरलोकोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्गममार्गः गमनपथस्तस्य विमार्गणं प्रापणं तत्रेष्ट समर्थः । पुनः कथंभूतः ? त्रिलोक्याः सत्समीचीनं यद्धर्मतत्त्वं तस्य कथनं तत्रैकपटुरद्वितीयो वाचालः । पुनः कथं ? विशदाश्च ते अर्थाश्च विशदार्थास्तैः । सर्वेषां प्राणिनां भाषाणां स्वभावपरिणामगुणं प्रकर्षेण युनक्तीति विशदार्थसर्व-भाषास्वभावपरिणामगुणप्रयोज्यः । सर्वे प्राणिनः स्वस्वभाषया निसृतं तव दिव्यध्वनिं कलयन्तीति तात्पर्यार्थः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्षको जानेवाले मार्गके खोजनेके लिये इष्ट (त्रिलोक्याः) तीन लोकके जीवोंको (सद्धर्मतत्त्व कथनैकपटुः) समीचीन धर्मतत्त्वके कथन करनेमें अत्यन्त समर्थ और (विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः) स्पष्ट अर्थवाली

सम्पूर्ण भाषाओंमें परिवर्तित होनेवाले स्वाभाविक गुणसे सहित (भवति) होती है।

भावार्थ—हे स्वामिन्! आपकी वाणी स्वर्ग और मोक्षका रास्ता बतानेवाली है, सब जीवोंको हितका उपदेश देनेमें समर्थ है, और सब भाषाओंमें बदल जाती है, अर्थात् जो जिस भाषाका जानकार है, आपकी दिव्यध्वनि उसके कानोंके पास पहुँचकर उसी रूप हो जाती है। यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३५ ॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति-
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥ ३६ ॥

फूले हुए कनकके नव पद्मके से
शोभायमान नखकी किरण-प्रभासे-
तूने जहाँ पग धरे अपने विभो! हैं,
नीके वहाँ विबुध पङ्कज कल्पते हैं ॥३६॥

टीका:—भो जिनेन्द्र! यत्र स्थाने। तव भगवतः। पादौ पदानि। धत्तः धरतः। तत्र स्थाने। विबुधाः देवाः। पद्मानि कमलानि। परिकल्पयन्ति रचयन्तीत्यर्थः। कथंभूतौ पादौ? उन्निद्राणि विकसितानि यानि हेम्नः सुवर्णस्य नवपंकजानि कमलानि तेषां पुंजः समूहस्तस्य कान्तिस्तया कृत्वा परिसमन्ततः उल्लसन्तो ये नखास्तेषां किरणास्तेषां शिखाग्रभागस्ताभिरभिरामौ मनोज्ञावित्यर्थः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्रदेव! (उन्निद्रहेमनवपङ्कज पुञ्जकान्तिपर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) फूले हुए सुवर्णके नवीन

कमल समूहके समान कान्तिके द्वारा सब ओरसे शोभायमान नखों की किरणोंके अग्र भागसे सुन्दर (तव) आपके (पादौ) चरण (यत्र) जहाँ (पदानि) कदम (धत्तः) रखते हैं, (तत्र) वहाँ (विबुधाः) देव (पद्मानि) कमल (परिकल्पयन्ति) रच देते हैं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब आप धर्मोपदेश देनेके लिये आर्य क्षेत्रोंमें विहार करते हैं, तब देव लोग आपके चरणोंके नोचे कमलोंकी रचना करते जाते हैं ॥ ३६ ॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृकुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥ ३७ ॥

तेरी विभूति इस भाँति विभो ! हुई जो,
सो धर्मके कथनमें न हुई किसीकी ।
होते प्रकाशित परंतु तमिस्र-हर्त्ता,
होता न तेज रवि तुल्य कहीं ग्रहोंका ? ॥३७॥

टीका:—भो जिनेन्द्र ! इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण । यथा धर्मोपदेशनविधौ । तव तीर्थकरस्य । विभूतिरभूत् बभूव । तथा परस्य हरिहरादिषु विभूतिर्नाभूत् । धर्मस्योपदेशनं धर्मोपदेशनं तस्य विधिस्तस्मिन् । एतद्युक्तमेव दिनकृतः सूर्यस्य प्रभा दीप्तिर्यादृगभूत् । विकाशिनोऽपि प्रकटीभूतस्यापि ग्रहगणस्य तादृक् प्रभा कुत एव । कथंभूता सूर्यप्रभा ? प्रहतानि निराकृतानि अन्धकाराणि यस्यां सा ॥३७॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (इत्थं) इस प्रकार (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेशके कार्यमें (यथा) जैसी (तव)

आपकी (विभूतिः) विभूति (अभूत्) हुई थी, (तथा) वैसी (परस्य) किसी दूसरेकी (न 'अभूत') नहीं हुई थी। (प्रहतान्धकारा) अन्धकारको नष्ट करनेवाली (यादृक्) जैसी (प्रभा) कान्ति (दिनकृतः) सूर्यकी ('भवति') होती है, (तादृक्) वैसी (विकाशिनः अपि) प्रकाशमान भी (ग्रहगणस्य) अन्य ग्रहोंकी (कुतः) कहाँसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

भावार्थ—हे प्रभो ! धर्मोपदेशके विषयमें समवसरणादिरूप जैसी विभूति आपको प्राप्त हुई थी, वैसी विभूति अन्य देवताओंको प्राप्त नहीं हुई थी। सो ठीक ही है, क्या कभी सूर्य जैसी कान्ति शुक्र आदि ग्रहोंसे भी प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं होसकती है ॥३७॥

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥ ३८॥

दोनों कपोल झरते मदसे सने हैं,
गुंजार खूब करती मधुपावली है।
ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किन्तु भय आश्रित लोक तेरे ॥३८॥

टीका:—भो नाथ! भवदाश्रितानां पुंसां। ऐरावताभं पराक्रमेण ऐरावततुल्यं। उत्कटं उद्धतमापतन्तं सन्मुखमागच्छन्तमिभं हस्तिनं। दृष्ट्वा विलोक्य । भयं नो भवति। भवन्तमाश्रिता भवदाश्रितास्तेषां। कथंभूतमिभं ? श्च्योतन्तः क्षरन्तो ये मदास्तैराविलौ कलुषीभूतौ विलोलौ यो कपोलौ तयोर्मूले मत्ता भ्रमन्तश्च ये भ्रमरास्तेषां नादः शब्दस्तेन विवृद्धः कोपो यस्य स तम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(भवदाश्रितानाम्) आपके आश्रित मनुष्योंको (श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्) झरते हुए मद-जलसे मलिन और चञ्चल गालोंके मूल भागमें पागल हो घूमते हुए भौंरोंके शब्दसे बढ़ गया है क्रोध जिसका ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावतकी तरह (उद्धतम्) उद्दण्ड (आपतन्तम्) सामने आते हुए (इभम्) हाथीको (दृष्ट्वा) देखकर (भयम्) डर (नो भवति) नहीं होता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मनुष्य आपकी शरण लेते हैं, उन्हें मदोन्मत्त हाथी भी नहीं डरा सकता ॥ ३८ ॥

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥ ३९ ॥

नाना करीन्द्रदल कुंभ विदार केकी,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गजमोतियोंसे ।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उसपै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है ॥३९॥

टीका:—भो भगवन् ! हरिणाधिपोऽपि तव विभो क्रमयुगाचलसंश्रितं प्राणिनं नाक्रामति न पीडयति । क्रमयोर्युगं क्रमयुगं क्रमयुगमेवाचलः पर्वतस्तं संश्रितस्तं । हरिणानामधिपः । कथंभूतः हरिणाधिपः ? भिन्ना विदारिता ये इभाः हस्तिनस्तेषां कुंभाः कुंभस्थलानि तेभ्यो गलंति उज्ज्वलानि शोणितेन रुधिरेण आक्तानि लिप्तानि यानि मुक्ताफलानि तेषां प्रकरः समूहस्तेन भूषितोऽलंकारितो भूमेर्भागः प्रदेशो येन सः ।

पुनः कथंभूतः ? बद्धः क्रमः फाल इति येन स । कथंभूतं प्राणिनं ? क्रमं फालं गतः प्राप्तस्तं । सिंहस्य फालः क्रम इति कथ्यते ॥३९॥

अन्वयार्थ (भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकर-भूषितभूमिभागः) विदारे हुए हाथीके गण्डस्थलसे गिरते हुए उज्ज्वल तथा खूनसे भीगे हुए मोतियोंके समूहके द्वारा भूषित किया है पृथिवीका भाग जिसने ऐसा तथा (बद्धक्रमः) छलांग मारनेके लिये तैयार (हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतम्) अपने पाँवोंके बीच आये हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितम्) चरण युगलरूप पर्वतका आश्रय लेनेवाले पुरुषपर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो आपके चरणोंकी शरण लेता है, सिंह भी उनकी शिकार नहीं कर पाता ॥ ३९ ॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥ ४० ॥

झालें उठें चहुँ उड़े जलते अँगारे,
दावाग्नि जो प्रलयवह्नि समान भासे ।
संसार भस्म करने हित पास आवे,
त्वत्कीर्ति-गान शुभ-वारि उसे समावे ॥४०॥

टीका:—भो भगवन् ! त्वन्नामकीर्तनजलं भवन्नामस्मरणपानीयं । अशेषं समग्रं दावानलं विश्वं त्रैलोक्यं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तमभि-मुखमागच्छन्तं शमयति । तव नाम त्वन्नाम त्वन्नाम्नः कीर्तनं तदेव जलं

त्वन्नामकीर्तनजलं। अत्तुमिच्छति जिघत्सति, जिघत्सतीति जिघत्सुस्तं। कथंभूतं दावानलं? कल्पान्तकालपवनेन प्रलयकालवायुनोद्धता: ये वह्नयस्तेभ्य: ईषन्न्यून: कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पस्तं। पुन: ज्वाला: संजाता उत्पन्ना यस्यासौ ज्वलितस्तं। ज्वालादेर्न्हस्व:। पुन: कथं? उज्ज्वलं उत् ऊर्ध्वं ज्वलतीति उज्ज्वलस्तं। अथवा उज्ज्वलन्तेजोभिराक्रान्तं। पुन: कथं? उत्स्फुलिंगम् उत् इत्युच्छलन्त: स्फुलिंगा वह्निकणा: यस्मात्स तम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(त्वन्नामकीर्तनजलम्) आपके नामका यशोगानरूपी जल, (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्) प्रलयकालकी वायुकी प्रचण्ड अग्निके तुल्य (ज्वलितम्) प्रज्वलित (उज्ज्वलम्) उज्ज्वल और (उत्फुलिङ्गम्) जिससे तिलंगे निकल रहे हैं ऐसी तथा (विश्वं जिघत्सुम् इव) संसारको भक्षण करनेकी इच्छा रखनेवालेकी तरह (सम्मुखम्) सामने (आपतन्तम्) आती हुई (दावानलम्) वनकी अग्निको (अशेषम् 'यथा स्यात् तथा') सम्पूर्ण रूपसे (शमयति) बुझा देता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके नामका स्मरण करनेसे भयंकर दावानल-दुँवारकी बाधा नष्ट होजाती है ॥ ४० ॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंस: ॥ ४१ ॥

रक्ताक्ष क्रुद्ध पिक-कंठ समान काला,
फुंकार सर्प फणको करउच्च धावै।
नि:शंक हो जन उसे पगसे उलाँघे,
त्वन्नाम नागदमनी जिसके हिये हो ॥४१॥

टीका:--भो भगवन् ! यस्य पुंसः हृदि अन्तःकरणे त्वन्नामनागदमनी भवन्नामलक्षणसर्पवशीकरणौषधिरस्ति वरिवर्ति। स पुमान् निरस्तशंकः सन्। आपतन्तमभिमुखमागच्छन्तं फणिनं सर्पं क्रमयुगेन पादाभ्यामाक्रामत्युल्लंघयति। कथंभूतं फणिनं ? उत् ऊर्ध्वं फणा यस्य स तं। पुनः कथंभूतं ? रक्ते आताम्रे ईक्षणे नेत्रे यस्य स तं। पुनः कथं ? मदेन सह वर्तमानो यो हि कोकिलस्तस्य कण्ठस्तद्वन्नीलः श्यामलस्तं। पुनः कथं ? क्रोधेनोद्धतो दृप्तस्तं। तव नाम त्वन्नाम तदेव नागदमनी त्वन्नामनागदमनी ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस (पुंसः) पुरुषके (हृदि) हृदयमें (त्वन्नामनागदमनी) आपके नामरूपी नागदमनी–नागदौन औषध (अस्ति) मौजूद है, (स) वह पुरुष (रक्तेक्षणम्) लाल लाल आँखोंवाले (समदकोकिलकण्ठनीलम्) मदयुक्त कोयलके कण्ठकी तरह काले (क्रोधोद्धतम्) क्रोधसे उद्दण्ड और (उत्फणम्) ऊपरको फन उठाये हुए (आपतन्तम्) सामने आनेवाले (फणिनम्) साँपको (निरस्तशङ्कः 'सन्') शङ्कारहित होता हुआ (क्रमयुगेन) दोनों पाँवोंसे (आक्रामति) लाँघ जाता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो आपके नामका स्मरण करता है, भयंकर साँप भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता ॥ ४१ ॥

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद–
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥ ४२ ॥

घोड़े जहाँ हिनहिने, गरजे गजाली,
ऐसे महा प्रबल सैन्य धराधिपोंके।
जाते सभी बिखर हैं तव नाम गाये,
ज्यों अंधकार उगते रविके करोंसे॥४२॥

टीका:—भो देव! आजौ संग्रामे बलवतामपि भूपतीनां राज्ञां बलं सैन्यं त्वत्कीर्तनात् भवन्नामस्मरणात् उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं तम इव आशु शीघ्रं भिदामुपैति भेदं प्राप्नोतीत्यर्थः। उद्यन्नुदयप्राप्तो दिवाकरः सूर्यस्तस्य मयूखास्तेषां शिखास्ताभिरपविद्धं भिदां प्राप्तं। कथंभूतं बलं? वल्गन्तो ये तुरंगा अश्वास्तथा गजानां गर्जितानि तैर्भीमा भयंकरा नादाः शब्दा यस्मिन् तत्। तव कीर्तनं त्वत्कीर्तनं तस्मात्। बलं पराक्रमो विद्यते येषां ते बलवन्तस्तेषाम्॥४२॥

अन्वयार्थ—(त्वत्कीर्तनात्) आपके यशोगानसे (आजौ) युद्धक्षेत्रमें (बल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्) उछलते हुए घोड़े और हाथियोंकी गर्जनासे भयंङ्कर है शब्द जिसमें ऐसी (बलवताम्) पराक्रमी (भूपतीनाम् अपि) राजाओंकी भी (बलम्) सेना (उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्) उगते हुए सूर्यकी किरणोंके अग्रभागसे बाँधे गये (तमः इव) अन्धकारकी तरह (आशु) शीघ्र ही (भिदाम्) विनाशको (उपैति) प्राप्त होजाती है।

भावार्थ—हे नाथ! जिस तरह सूर्यकी किरणोंसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपका यशोगान करनेसे बड़े बड़े राजाओंकी सेनाएं भी युद्धमें नष्ट हो जाती हैं-हार जाती हैं॥४२॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह—
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे,

युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥ ४३ ॥

बर्छे लगे बह रहे गज रक्तके हैं,
तालाबसे विकल हैं तरणार्थ योद्धा ।
जीते न जायँ रिपु, संगर बीच ऐसे,
तेरे प्रभो ! चरण-सेवक जीतते हैं ॥४३॥

टीका:--भो भगवन् ! त्वत्पादपंकजवनाश्रयिण: प्राणिनो युद्धे रणे जयं लभन्ते विजयं प्राप्नुवंति । तत्र पादौ त्वत्पादौ तावेव पंकजे कमले तयोर्वनमाश्रयन्ति ते त्वत्पादपंकजवनाश्रयिण: । कथंभूतास्ते ? विजिता दुर्जया जेयपक्षा: शात्रवा यैस्ते । कथंभूते युद्धे ? कुन्तानां भल्लानामग्राणि तैर्भिन्ना विदारिता ये गजास्तेषां शोणितानि रुधिराणि तान्येव वारीणि जलानि तेषां वाहा: प्रवाहास्तेषु वेगानां रयाणां अवतारस्तत्र तरणातुरा व्याकुला ये योधा: सुभटास्तैर्भीमं भयंकरं तस्मिन् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ--(त्वत्पादपंकजवनाश्रयिण:) आपके चरणरूप कमलोंके वनका आश्रय लेनेवाले पुरुष (कुन्ताग्रभिन्नगजशोणित-वारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे) भालोंके अग्रभागसे विदारे-गये हाथियोंके खूनरूपी जलके प्रवाहको वेगसे उतरने और तैरनेमें व्यग्र योद्धाओंके द्वारा भयंकर (युद्धे) युद्धमें (विजितदुर्जयजेय-पक्षा: 'सन्त:') जीत लिया है मुश्किलसे जीतने योग्य शत्रुओंके पक्षको जिन्होंने ऐसे होते हुए (जयम्) विजय (लभन्ते) पाते हैं ।

भावार्थ--हे भगवन् ! जो आपके चरणोंका सहारा लेते हैं वे भयंकरसे भयंकर युद्धमें भी निश्चित विजय पाते हैं ॥ ४३ ॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ॥
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥ ४४ ॥

है काल-नृत्य करते मकरादि जन्तु,
त्यों वाडवाग्नि अति भीषण सिन्धुमें है।
तूफानमें पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी प्रभो! स्मरणसे तव पार होते ॥४४॥

टीकाः--भो भगवन्! रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्राः प्राणिनः अम्भोनिधौ समुद्रे। भवतस्तव। स्मरणात् स्मरणमात्रात्। त्रासं भयं। विहाय मुक्त्वा। व्रजंति इष्टस्थानं यान्तीत्यर्थः। रंगन्तः उच्छलन्तः ये तरंगाः कल्लोलास्तेषां शिखरेऽग्रभागे स्थितानि यानि पात्राणि प्रवहणानि येषां ते। कथंभूतेऽम्भोनिधौ क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ता भीषणा भयंकरा ये नक्रा दुष्टजलचरजीवास्तेषां चक्राणि यस्मिन् स तस्मिन् पाठीनपीठो मत्स्यभेदस्तेन भयदो महाभयप्रदायी उल्वणो वाडवाग्निर्यस्मिन् स तस्मिन् ॥४४॥

अन्वयार्थ--(क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ) क्षोभको प्राप्त हुए भयंङ्कर नाकुओं (मगरों) के समूह और मछलियोंके द्वारा भय पैदा करनेवाले तथा विकराल है वडवानल जिसमें ऐसे (अम्भोनिधौ) समुद्रमें (रंगत्तरगशिखरस्थितयानपात्राः) चञ्चल लहरोंके अग्र भागपर स्थित है जहाज जिनका ऐसे मनुष्य (भवतः) आपके (स्मरणात्) स्मरणसे (त्रासम्) डर (विहाय) छोड़कर (व्रजन्ति) गमन करते हैं-यात्रा करते हैं।

भावार्थ--हे भगवन्! जो आपका स्मरण करते हैं, वे तूफानके समय भी समुद्रमें निडर होकर यात्रा करते हैं ॥ ४४ ॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥ ४५ ॥

अत्यन्त पीड़ित जलोदर भारसे हैं ।
है दुर्दशा तज चुके निज जीविताशा ।
वे भी लगा तव पदाब्ज-रजः सुधाको,
होते प्रभो! मदन-तुल्य स्वरूप देही ॥४५॥

टीकाः—भो देव! उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना मर्त्या मनुष्यास्त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः सन्तो मकरध्वजतुल्यरूपा भवंति॥ उद्भूता उत्पन्ना भीषणा भयंकरा जलोदरा नानारोगादयस्तेषां भारस्तेन भुग्नाः । तव पादावेव पंकजे तयो रजस्तदेवामृतं तेन दिग्धो लिप्तो देहो येषां ते । मकरध्वजेन कामेन तुल्यं रूपं येषां ते । कथंभूता मर्त्याः? शोच्यां दशामवस्थामुपगताः प्राप्ताः । शोचयितुमर्हा शोच्या ताम् । पुनः कथंभूताः? च्युता जीवितस्याशा येषां ते ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः) उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर-रोगके भारसे झुके हुए (शोच्याम् दशाम् शोचनीय अवस्थाको (उपगताः) प्राप्त और (च्युतजीविताशाः) छोड़ दी है जीवनकी आशा जिन्होंने ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः 'सन्तः') आपके चरणकमलोंकी धूलिरूप अमृतसे लिप्त शरीर होते हुए (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेवके समान रूपवाले (भवन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ--हे नाथ! जो आपके चरणोंका ध्यान करता है, उसका भयङ्कर जलोदररोग दूर हो जाता है ॥ ४५ ॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ॥ ४६ ॥

सारा शरीर जकड़ा दृढ़ साँकलोंसे,
बेड़ी पड़ीं छिल गईं जिनकी सुजाँघें।
त्वन्नाम मंत्र जपते जपते उन्होंके,
जल्दी स्वयं झड़ पड़े सब बन्ध बेड़ी ॥४६॥

टीका--भो नाथ! मनुजा मनुष्या अनिशं निरन्तरं। त्वन्नाम मन्त्रं भवदभिधानमन्त्रं। स्मरन्तः सन्तः। सद्यस्तत्कालं विगतबंधभयाः प्रणष्टबन्धभया भवंति। तव नाम त्वन्नाम एव मन्त्रस्त्वन्नाम मन्त्रस्तं। विगतं बन्धभयं येषां ते। कथंभूता मनुजाः? आपादकण्ठं इति पादकण्ठं आमर्यादीकृत्य उरूणि महांति तानि लोहशृङ्खलानि तैर्वेष्टितमंगं येषां ते। पुनः कथंभूतं? गाढं यथा स्यात्तथा बृहन्ति महान्ति यानि निगडानि तेषां कोटिभिरग्रभागैर्निघृष्टा जंघा येषां ते ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(आपादकण्ठम्) पाँवसे लेकर कण्ठपर्यन्त (उरु-शृङ्खलवेष्टिताङ्गाः) बड़ी बड़ी साँकलोंसे जकड़ा हुआ है शरीर जिनका ऐसे और (गाढं 'यथा स्यात्तथा') अत्यंत रूपसे (बृहन्निगडकोटि-निघृष्टजङ्घाः) बड़ी बड़ी बेड़ियोंके अग्रभागसे घिस गई हैं जाँघें जिनकी ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (अनिशम्) निरन्तर (त्वन्नाम-मन्त्रम्) आपके नामरूपी मन्त्रको (स्मरन्तः) स्मरण करते हुए

(सद्यः) शीघ्र ही (स्वयम्) अपने आप (विगतबन्धभयाः) बंधनके भयसे रहित (भवन्ति) होजाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो निरन्तर आपके नामका जाप करते हैं, उनके बेड़ी आदि बन्धन अपने आप टूट जाते हैं ॥ ४६ ॥

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ।
[१]तस्याशु नाशमुमयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

जो बुद्धिमान इस सुस्तवको पढ़े हैं,
होके विभीत उनसे भय भाग जाता ।
दावाग्नि-सिन्धु अहिकारण-रोगका त्यों,
पञ्चास्य मत्त गजका सब बन्धनोंका ॥४७॥

टीका:—भो नाथ ! यः कश्चिन्मतिमान् पुमान् । इमं प्रसिद्धं तावकं स्तवं। अधीते पापठीति । तस्य पुंसः पुरुषस्य । मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थं भयं प्रणाशमुपयाति व्रजति । मत्तद्विपेन्द्रश्च मृगराजश्च दवानलश्च अहिश्च संग्रामश्च वारिधिश्च महोदरं च जलोदरं च बन्धनानि च मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधि महोदरबन्धनानि तेभ्य उत्थं समुत्थितं । कयेव ? उत्प्रेक्षते भियेव भयेनेव ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मतिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (तावकम्) आपके (इमम्) इस (स्तवम्) स्तोत्रको (अधीते) पढ़ता है, (तस्य) उसका (मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधि-

---

१ 'तस्य प्रणाशमुपयाति' अमरप्रभटीकासम्मतः पाठः ।

महोदरबन्धनोत्थम्) मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, साँप, युद्ध, समुद्र, जलोदर और बन्धन आदिसे उत्पन्न हुआ (भयम्) डर (भिया इव) मानों भयसे ही (आशु) शीघ्र (नाशम्) विनाशको (उपयाति) प्राप्त होजाता है।

भावार्थ——हे प्रभो! आपका स्तवन करनेसे सब तरहके भय नष्ट होजाते हैं। ॥ ४७ ॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ ४८ ॥

तेरे मनोज्ञ गुणसे स्तव मालिका ये,
गूँथी प्रभो! विविध वर्ण सुपुष्पवाली।
मैंने सभक्ति जन कण्ठ धरे इसे जो,
सो 'मानतुङ्ग' सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥४८॥

टीकाः——भो जिनेन्द्र! इह लोके कश्चन पुमान् जनो। मया भक्त्या तव गुणैर्निबद्धां भवत्तीर्थंकरगुणरचितां। स्तोत्रस्रजं स्तोत्रमालां कण्ठगतां धत्ते धरति। तं मानतुंगं जनं। लक्ष्मीः कमला अवशा द्रुगतचित्ता सती अजस्रं निरंतरं समुपैति प्राप्नोति। मानेन तुंगो महान् मानतुंगस्तं मानतुंगं कवेरभिधानं। स्तोत्रमेव स्रक् स्तोत्रस्रक्ताम्। यथा कश्चिद्गुणैः सूत्रैर्निबद्धां ग्रंथितां सदृशां स्रजं कण्ठमालां बिभर्ति तं पुरुषं लक्ष्मीः शोभा समुपैति। कथंभूतां स्तोत्रस्रजं? विविधवर्णा एव विचित्राणि नानाविधानि पुष्पाणि यस्यां सा विविधवर्णविचित्रपुष्पा ताम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ——(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्रदेव! (इह) इस संसारमें

(यः जनः) जो मनुष्य (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (गुणैः) प्रसाद माधुर्य ओज आदि गुणोंसे [मालाके पक्षमें–डोरेसे] (निबद्धाम्) रची गई [माला पक्षमें–गूंथी गई] (विविधवर्णविचित्र-पुष्पाम्) नाना अक्षर ही हैं विचित्र फूल जिसमें ऐसी [मालापक्षमें-अच्छे रंगवाले कई तरहके फूलोंसे सहित] (तव) आपकी (स्तोत्र-स्रजम्) स्तुतिरूप मालाको (अजस्रम्) हमेशा (कण्ठगताम् धत्ते) याद करता है, [मालापक्षमें–गलेमें पहिनता है] (तम्) उस (मान-तुंगम्) सन्मानसे उन्नत पुरुष [अथवा स्तोत्रके रचनेवाले मानतुंग आचार्य] को (लक्ष्मीः) स्वर्ग मोक्षादिकी विभूति (अवशा 'सती') स्वतन्त्र होती हुई (समुपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ——हे नाथ ! जो मनुष्य आपके इस स्तोत्रका निरन्तर पाठ करता है, उसे हरएक तरहकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचितभक्तामरस्तोत्र-आदिनाथस्तोत्र

❁ समाप्त ❁

जैन स्तोत्र संग्रह

अर्थात्

पंचस्तोत्र–संग्रह

जैन–साहित्यका स्तोत्र–साहित्य विशाल है। इसमें सुप्रसिद्ध पंचस्तोत्र तो बड़े ही सुन्दर भाव, भक्तिरसपूर्ण और दैवी चमत्कारयुक्त हैं। अभी तक ये स्तोत्र आधुनिक पद्धतिसे सुसम्पादित होके नहीं छपे थे। इनके साथ संस्कृतटीका है. नूतन और पुरातन पद्यानुवादोंसे विभूषित हैं। इन पांचोंका सम्पादन और टीका साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी जैन शास्त्री ने की है। श्लोकोंके भावोंको विस्तारसे, स्पष्टतासे और बहुत सरल भाषा में समझाया है। पहली ही बार सुन्दरता और शुद्धतापूर्वक छपे हैं। छपाई बहुत सुंदर है, कागज अच्छा है। मूल्य भी कम है।

(१) भक्तामरस्तोत्र अर्थात् आदिनाथस्तोत्र–श्रीमानतुंगाचार्यकृत मूल श्लोक, श्रीचन्द्रकीर्तिकृत संस्कृतटीका, कविराज पं० गिरधर शर्माजीकृत हिन्दी–पद्यानुवाद। भाषाटीका। मू० ६२ न. पै. ५०) सै०

(२) कल्याणमन्दिरस्तोत्र अर्थात् पार्श्वनाथस्तोत्र–श्रीकुमुदचन्द्र अपरनाम तार्किकशिरोमणि सिद्धसेनदिवाकरकृत मूलश्लोक, चन्द्रकीर्तिकृत संस्कृतटीका, स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजीकृत पुरातन पद्यानुवाद, राजकवि गिरिधरजी शर्माकृत नूतन हिन्दी पद्यानुवाद। भाषाटीका सहित है। मूल्य ६२ नये पै. ५०) सैकड़ा।

(३) विषापहारस्तोत्र–महाकवि धनंजयकृत मूलश्लोक, श्रीचन्द्रकीर्तिकृत संस्कृतटीका, स्व० श्रीनाथूराम जी प्रेमीकृत नूतन पद्यानुवाद, भाषाटीका सहित है। मूल्य ६२ नये पै. ५०) सैकड़ा।

(४) एकीभावस्तोत्र—श्रीवादिराजसूरिकृत मूल श्लोक, स्व० कविवर भूधरदासकृत पुरातन पद्यानुवाद, कविराज गिरिधर शर्माकृत नवीन पद्यानुवाद। भाषा टीका सहित। मू० २५ न. पै. २०) सैकड़ा।

(५) जिनचतुर्विंशतिकास्तोत्र—श्रीभूपालकविकृत मूल श्लोक, पं० प्रवर आशाधरजीकृत संस्कृतटीका, स्व० कविवर भूधरदासजी कृत पुरातन पद्यानुवाद, धन्यकुमारजी सुधेशकृत नवीन पद्यानुवाद। भाषाटीका सहित है। मूल्य ५० न. पै. ४०) सैकड़ा।

सूचना—पाँचों स्तोत्र एकत्र एक सुंदर मजबूत जिल्द में भी हैं। मू० ३)

— मिलने के पते—

(१) वीरेन्द्रकुमार देवेन्द्रकुमार जैन
श्रीसन्मतिकुटीर, चन्दावाड़ी सी. पी. टैंक बम्बई—४

(२) दिगम्बर जैनपुस्तकालय,
कापड़ियाभवन, गान्धीचौक, सूरत

(३) जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय; हीराबाग, बम्बई—४

(४) जैनेन्द्र-साहित्य-सदन, ललितपुर, (उ० प्र०)

(५) सद्बोधरत्नाकर कार्यालय लक्ष्मीपुरा, सागर.

(६) पं० मोहनलाल शास्त्री लाखाभवन, पुरानी चरहाई, जबलपुर

मुद्रक—पं० परमेष्ठीदास जैन, जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर (उ. प्र.)